

TEXT DARK AND LIGHT

**TEXT CROSS
WITHIN THE
BOOK ONLY**

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182628

UNIVERSAL
LIBRARY

OUP— 8-11-77—7,000.

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H81.01
B185

Accession No. H12882

Author बाली, तारकनाथ

Title सुप्रिज्ञानकम पन्त और उत्तर . 1955

This book should be returned on or before the date last marked bel

दो शब्द

प्रस्तुत पुस्तक में पन्त के नवीन जीवन दर्शन की छाया में उत्तरा की सामाजिक चेतना के मूल्यांकन का प्रयास किया गया है। प्रसंग वश आए हुए साहित्य की आलोचना के सामान्य सिद्धान्तों की भी विवेचना हुई है। प्रत्येक समस्या को ऐतिहासिक दृष्टि से देखने का भी प्रयास किया गया है।

पहली पुस्तक 'सुमित्रानन्दन पन्त' में कवि के ग्राम्या तक की सामाजिक चेतना का मूल्यांकन प्रधानतः और नवीन दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण ही प्रधान विषय रहा है। यदि इस प्रयास से पन्त के विद्यार्थियों को सन्तोष हुआ तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा।

विजया दशमी
माधव आश्रम,
आगरा। }

लेखक—

पूज्य पिता जी को सादर

विषय-सूची

१—युग-धारा और व्यक्तित्व-विकास	१
२—उत्तरा की कला	१६
संकेत रूपक	२५
सौन्दर्य-बोध और कल्पना	४१
उत्तरा के प्रतीक	५२
३—प्रकृति-चित्रण	६३
साहित्य जीवन और प्रकृति	६६
काव्य का आनन्द और प्रकृति का आनन्द	७८
पंत और प्रकृति —	८५
उत्तरा में प्रकृति	८६
—सामाजिक चेतना	८६
पंत में सामाजिक चेतना का विकास	१०५
अरविन्द दर्शन	१११
सृष्टि क्रम (विकासवाद)	११३
—उत्तरा की रचनाएँ	१३८
१. संक्रान्ति काल का वर्णन	१३६
२. नवीन साँस्कृतिक चेतना-आरोहण	१४३
३. राष्ट्रीयता	१४७
४. प्रेम और वियोग	१४८

५. युग्म चेतना	१५३
६. ईश्वर और विनय	१५६
७. रस का अभाव क्यों ?	१६४
८. प्रगतिवादी या प्रतिक्रियावादी ?	१६६
९. कला के प्रति दृष्टिकोण	१७५



**सुमित्रानन्दन पंत
और
उत्तरा**

युग-धारा और व्यक्तित्व-विकास

जीवन के विकास का सनातन सत्य संस्कृति और साहित्य के विकास का समष्टि रूप है। संस्कृति और साहित्य के विकास में ही जीवन के विकास को नापा तथा आँका जाता है। मानव-समाज में नव अंकुरित-पल्लवित परिस्थितियों तथा सम्बन्धों के प्रकाश में साहित्य का सूत्र-बद्ध अध्ययन ही साहित्य का इतिहास या उसका विकास कहलाता है। मूल प्रश्न यह है कि क्या एक युग का साहित्य अपने काल की परिस्थितियों एवं सामाजिक सम्बन्धों को प्रतिबिम्बित करता है या नहीं ? और फिर उनके प्रति उसका क्या दृष्टिकोण है ? यह तो हुई समाज के साहित्य पर प्रभाव की बात, जो पहली बात है। दूसरी बात जिसे साहित्य के विकास में देखने का प्रयत्न किया जाता है यह है कि जब समाज साहित्य को एक विशिष्ट प्रभाव एवं दृष्टिकोण प्रदान कर देता है, फिर उस प्रभाव एवं दृष्टिकोण को लेकर चलने वाली साहित्य-धारा का स्वरूप और विकास किस पद्धति पर होता है ? इस प्रयास के फलस्वरूप साहित्य में विभिन्न साहित्य-धाराओं की स्थापना की जाती है और प्रत्येक धारा का क्रम-बद्ध अध्ययन करना विकास-प्रदर्शन करने वाले आलोचक लक्ष्य बनाते हैं।

विकास का अध्ययन करने में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से एक भूल प्रायः विद्वानों ने की है। और वह यह कि विकास की एक-सूत्रता के प्रदर्शन में साहित्यकार की व्यक्तित्व-गरिमा की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष उपेक्षा। उदाहरण के लिए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने सूर के भ्रमरगीत को किसी चली आती हुई परम्परा—चाहे मौखिक ही—का पूर्ण विकास माना है। क्या यह कहकर हम सूर की मौलिक प्रतिभा का अपमान नहीं करते ? क्या उस महान् कवि में इतनी प्रतिभा नहीं थी कि वह एक नवीन विषय पर इतनी महान् कृति प्रस्तुत कर सके ? क्या एक बार उन्नत परम्परा के बह निकलने पर यह आवश्यक हो जाता है कि बाद के सभी कवि उस परम्परा का विकास ही करें—

उत्कृष्ट रचनाओं का ही निर्माण करें ? इधर आधुनिक युग की खड़ी बोली कविता के अध्ययन में प्रायः कहा जाता है कि यह पश्चिम से आया है, यह बंगाल से टपका है, यह पूर्ववर्ती साहित्यकारों का प्रभाव है इत्यादि-इत्यादि । तो क्या साहित्यकार की अपनी कोई देन नहीं है । यह नहीं समझना चाहिए कि साहित्यकारों पर बाह्य प्रभावों का कोई मूल्य ही नहीं होता । मेरा उद्देश्य तो यह स्पष्ट करना है कि कवि पर बाह्य प्रभाव की अपेक्षा उसकी भीतरी शक्ति का महत्व अधिक है । कारण, बाह्य परिस्थितियों का प्रभाव व्यक्ति के व्यक्तित्व के अनुकूल ही होता है । जब हम किसी व्यक्ति पर सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव की बात कहते हैं तो हमें यह देखना होता है कि उसने सामाजिक परिस्थितियों को कैसे देखा ? इस प्रभाव के मूल्यांकन में परिस्थितियों नहीं वरन् व्यक्ति की प्रतिभा ही प्रमुख तत्व हैं ।

अभी तक किसी भी कवि के आलोचनात्मक अध्ययन में प्रायः उसके व्यक्तित्व तक ही लेखनी सीमित रखी गई है । युगधारा के बीच रखकर कवियों के मूल्यांकन का प्रयत्न नहीं किया गया । यदि किया भी गया है तो भी आलोचक का ध्यान कवि की मान्यताओं एवं धारणाओं में ही उलभकर रह गया है, युगधारा के साथ उनके समन्वय का प्रयत्न नहीं किया गया । प्रस्तुत निबन्ध में आधुनिक युग की खड़ी बोली हिन्दी कविता के विकास के बीच रखकर पन्त-साहित्य का, उसके निजी विकास के प्रकाश में मूल्यांकन करने का उपक्रम किया जाएगा । इसके लिए सबसे पहले हमें खड़ी बोली कविता की आरम्भिक अवस्था एवं प्रवृत्तियों का मूल्यांकन करना पड़ेगा । यह पन्त-साहित्य की पूर्व-पीठिका हुई । दूसरी बात यह देखी जाएगी कि पन्त साहित्य में हमें उन प्रवृत्तियों का कहाँ तक सन्निवेश मिलता है । यहीं पर यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि क्या पन्त ने हिन्दी-कविता में कुछ नवीन प्रवृत्तियों को भी मुखर किया या नहीं । अन्त में इन नवीन प्रवृत्तियों और वर्तमान युग के समन्वय के प्रश्न पर विचार किया जाएगा ।

पन्त से पूर्व की खड़ीबोली की कविता इतिवृत्तात्मक थी । कविता के बहिरंग में ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली स्वीकार की गई और अन्तरंग में शृंगार का बहिष्कार कर नवीन विषयों का समावेश किया गया । खड़ी बोली

कविता के इस आरम्भिक युग में उसका शरीर भी नया था और आत्मा भी नई थी—दोनों पक्षों के इस नवीन रूप का जन्म हुआ था। जैसा कि स्वाभाविक था उस काल की कविता की भाषा में साहित्यिकता का अभाव था। भाषा को काव्योचित गुण प्राप्त करने में समय लगता है। उसमें धीरे-धीरे ही साहित्यिक उत्कर्ष का आविर्भाव होता है। भाषा की इस किशोर-सरलता का दूसरा कारण विषयों की बहुविध नवीनता भी है। जब कोई कविता नये विषयों की ओर उन्मुख होती है तो उनमें रसोद्बोधन की शक्ति उत्पन्न करने में भी कुछ समय लगता है। यह स्पष्ट है कि उस युग की अधिकांश कविता में साहित्यिकता के अभाव के कारण नवीन भाषा और नवीन विषय ही है। लेकिन एक बात और भी है। उस काल में एक भी ऐसी प्रतिभा नहीं थी जो अपने युग की समस्त साहित्यगत प्रवृत्तियों को आत्मसात कर उन्हें साहित्यिक रूप में सँजो सके। ऐसी प्रतिभा के अभाव के कारण ही उस काल की कविता का स्वरूप प्रमुखतः इतिवृत्तात्मक ही रहा। बोलचाल की खड़ी बोली में भी उसी प्रकार उत्कृष्ट साहित्य रचा जा सकता था जिस प्रकार बोलचाल की ब्रजभाषा में सूरदास ने उत्तम साहित्य का सृजन किया जो अपने सौन्दर्य के उत्कर्ष और अनुभूति की गम्भीरता में अनन्य है।

प्रत्येक वस्तु के तीन पक्ष होते हैं—१—बोध पक्ष, २—भाव पक्ष और ३—कल्पना पक्ष। बोधपक्ष का सम्बन्ध वस्तु के स्वरूप से है, भावपक्ष का सम्बन्ध वस्तु के प्रभाव से है और कल्पना पक्ष से सम्बन्ध वस्तु के ज्ञान से उद्भासित अन्य समान कल्पनाओं से है। शिशु-बुद्धि वस्तु के बोध-पक्ष की ओर ही अधिक आकृष्ट होती है। विकास के साथ-साथ वस्तु का भावपक्ष और कल्पनापक्ष भी स्पष्ट होने लगता है। शिशु अवस्था में खड़ी बोली साहित्य का ध्यान भी वस्तुओं के बोधपक्ष की ओर ही अधिक रहा। कवियों का ध्यान वस्तुओं के स्थूल वर्णन की ओर ही रहा। फलस्वरूप इतिवृत्तात्मक कविता का सृजन हुआ जिसकी आत्मा नीरस थी। आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने युग के कवियों को सीधे, सरल शब्दों की रचना द्वारा प्रभाव उत्पन्न करने की सलाह दी थी। पहली बात को तो प्रायः सभी कवियों ने स्वीकार किया किन्तु दूसरी बात में कुछेक को ही सफलता मिली। जहाँ तक

कविता के बहिरंग का सवाल था, उसके परिमार्जन और विकास की आवश्यकता थी जो प्रसाद, पन्त, निराला आदि महान प्रतिभाओं द्वारा पूरी हुई।

यह ऊपर संकेत किया जा चुका है कि इतिवृत्तात्मक कविता में विषयों की बहुविधता पाई जाती है। वह युग राष्ट्रीय जागरण का युग था। उसके प्रभाव के फलस्वरूप कवियों में राष्ट्रीय चेतना पाई जाती है। रीतिकाल के परंपरित शृङ्गार-वर्णन का पूर्ण बहिष्कार किया गया। उन्हीं दिनों आर्यसमाज आदि के सुधारवादी आंदोलन आरम्भ हो चुके थे। उन के फलस्वरूप प्रेम की कविता को दबा देने का प्रयत्न किया गया। अंग्रेज-साम्राज्यवादियों के शोषण की ओर भी कवियों का ध्यान गया किन्तु उसकी प्रतिक्रिया वैसी उग्र नहीं हुई जैसी होनी चाहिए थी। इसका पहला कारण तो यह था कि वह राष्ट्रीय जागरण का आरम्भिक काल था। राष्ट्रीय चेतना ने समाज में भी विशेष उग्र रूप धारण नहीं किया था। आगे चलकर जब देश-प्रेम और स्वातन्त्र्य-प्रगति की आकांक्षा प्रबल हो उठी तब राष्ट्रीय भावना से ऊर्जस्वित रचनाओं के भी दर्शन होने लगे। सामाजिक क्षेत्र में वर्ण-भेद और वर्ग-भेद के कारण जो विषमता और उग्रता तात्कालिक वातावरण में भर गई थी उसने भी उस युग के चिन्तकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया और वे लोग उसे दूर करने की ओर प्रवृत्त हुए। राष्ट्रीय-चेतना को संगठित करने के लिए भी यह आवश्यक था कि भारतीय जनता के आपसी झगड़े दूर किए जाएँ जिससे उनकी एकता का बल प्रभावशाली हो सके। किन्तु उस युग के चिन्तक वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध नहीं जा सकते थे। यह उस युग की सीमा थी। स्वयं महात्मा गाँधी ने वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार किया है। किन्तु वर्ण-व्यवस्था से भी आगे बढ़कर जो विभिन्न जातीय वर्गों की स्थापना हुई थी, उसे गाँधी ने तोड़ फेंकने की सलाह दी। जातीय वर्गों के उच्छेदन की ओर अग्रसर होना भी प्रगति का लक्षण था। आज भी लोग इन्हें बुरी दृष्टि से देखते हैं। उस युग की इस माँग के पीछे आपसी संघर्षों को मिटाकर संगठित होने की जो भावना काम कर रही थी वह निस्सन्देह श्रेयस्कर है। समाज की शक्ति को टुकड़े-टुकड़े करने वाले वर्गों को मिटाने का यह प्रयत्न

बहुत आगे तक बढ़ता गया और बढ़ता जा रहा है ।

यह कहा जा चुका है कि इतिवृत्तात्मक युग में परंपरित शृंगार-वर्णन का कटु विरोध किया गया । किन्तु इसका अभिप्राय नहीं है कि स्त्री-पुरुष के सम्बन्धों की ओर ध्यान ही नहीं दिया गया । वरन् इस दिशा में भी हमें उस युग की प्रगति के लक्षण दिखाई देते हैं । भारतीय इतिहास के मध्यकाल में नारी को भी उपभोग की वस्तु भर समझ लिया गया था । किन्तु उस युग में फिर से वैदिक-कालीन भावना के अनुरूप स्त्रियों को स्वाधीनता देने और पुरुषों के समान अधिकार देने की बातें होने लगीं । सीता, गार्गी, सावित्री आदि की कथाएँ दुहराई जाने लगीं । महात्मा गांधी ने स्त्रियों से कहा कि वे स्वयं ही अपने उद्धार-का प्रयत्न करें । साहित्य में भी पुरुषों की स्वार्थ-भावना की निन्दा की जाने लगी । नारी समस्या को लेकर आज तक हिन्दी साहित्य में बड़ी ओजपूर्ण रचनाएँ की जा रही हैं ।

राष्ट्रीय चेतना की अभिव्यक्ति दो रूपों में हो सकती है और होती है । प्रथम, राजनीतिक क्षेत्र में विदेशी शासकों का उग्र विरोध किया जाता है; द्वितीय, सांस्कृतिक धार्मिक क्षेत्र में शासकों की संस्कृति और धर्म की निन्दा कर अपनी गरिमा का चित्रण किया जाती है । इतिवृत्तात्मक युग के साहित्य-कारों में पहली भावना का रंग तो बहुत धुंधला है, किन्तु दूसरी प्रवृत्ति विशेष रूप से पाई जाती है । विदेशी सभ्यता की निन्दा करना और अपनी प्राचीन सभ्यता की महिमा का उद्घाटन करना प्रायः प्रत्येक साहित्यकार ने अपना कर्तव्य मान लिया । प्राचीन संस्कृति का मोह और नवीन पश्चिमी सभ्यता का विरोध, दोनों बातों का प्रभाव अच्छा भी हुआ और बुरा भी । अच्छा तो इस दृष्टि से कि प्राचीन सांस्कृतिक वैभव को यदि समाज भूल जाए तो सांस्कृतिक परंपरा टूट जाती है, निजी सभ्यता का नाश हो जाता है । उधर शासक वर्ग तो यह चाहता ही था कि भारतीय जनता अपनी संस्कृति और धर्म को भूलकर उनकी संस्कृति और धर्म को अपना ले । यदि भारत अंग्रेजों की सभ्यता और धर्म को अपना लेता तो फिर उससे स्वतंत्रता का उनकी दृष्टि में कोई अर्थ ही नहीं रह जाता क्योंकि तब भारत और ब्रिटेन की नीति प्रायः एक सी ही रहती । तो इस खतरे के समय में उस काल के चिन्तकों ने जनता

का ध्यान अपनी संस्कृति और अपने धर्म की ओर खींचकर देश का भारी उपकार किया। देश की भौगोलिक सीमाएँ ही उसको विशिष्टता प्रदान नहीं करती वरन् देश की संस्कृति ही उसकी वास्तविक प्राण-शक्ति होती है।

इतिवृत्तात्मक युग के पश्चात भी हमें यह अतीत-गौरव का मोह दिखाई देता है। प्रसाद ने नाटकों के माध्यम से अपने अतीत-गौरव और सांस्कृतिक-ऐश्वर्य को जनता के सम्मुख रखा। भारतेन्दु और विशेषकर द्विवेदीयुग में ही यह आवश्यक हो गया था कि धर्म की प्राचीन भावनाएँ वदली जाएँ। आर्य समाज ने राम और कृष्ण के अवतारस्वरूप को सैद्धान्तिक रूप से अस्वीकार करके उनके लोकनायकत्व की सम्यक् स्थापना की थी। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय ने कृष्ण को प्रियप्रवास में लोकनायक का रूप दिया। श्री मैथिलीशरण गुप्त राम को लोकनायक तो नहीं बना सके, हों साकेत में अपने युग की समस्याओं को मुखर करने की ओर उनका ध्यान अवश्य गया। गुप्तजी के साकेत में धार्मिकता के साथ-साथ नवजागरण के भी संकेत मिलते हैं। प्रियप्रवास में तो उस युग की भावना का गहरा रंग है। इन दोनों उदाहरणों से यह तो स्पष्ट है कि मध्ययुग के धार्मिक विश्वासों में परिवर्तन की आवश्यकता का अनुभव किया गया और इस आवश्यकता की थोड़ी बहुत पूर्ति भी की गई। यह नवीन परिस्थितियों के अनुरूप जीवन और संस्कृति को मोड़ने का महत्वपूर्ण प्रयास था।

धार्मिकता की आड़ लेकर शूद्रों को कुचलने और दबाने के प्रयत्न के फलस्वरूप उनमें असन्तोष बढ़ता गया। जब उनको मानव-सुलभ अधिकारों से भी वंचित कर दिया जाय तो यह स्वाभाविक ही था कि वह अन्य वर्णों को और विशेषकर ब्राह्मणों को द्वेष की दृष्टि से देखने लगे। एक बात विशेष ध्यान देने की यह है कि वस्तु वस्तुतः उनका रोष किसी वर्ण-विशेष के विरुद्ध न होकर धार्मिक रीति-नीतियों के प्रति था क्योंकि उन्हीं की आड़ लेकर ही उनके अधिकार छीन लिए जाते थे। जब उनके सामने ईसायी पादरियों ने एक ऐसा धर्म रखा जिसे ग्रहण कर वे उस धर्म के मानने वाले बड़े-से-बड़े व्यक्तियों के साथ समानता का दावा कर सकते थे, वे उस ओर लपके। इस दृष्टि से यह युग कबीर के युग से आश्चर्यजनक समानता रखता है।

वास्तव में तो वैदिक धर्म में भी मानव-मानव की एकता पर बल दिया गया था किन्तु परिस्थितियों के बदल जाने पर उसमें दोष आगए थे। स्वामी दयानन्द ने शूद्रों के ईसायी बनाए जाने की घटनाओं की अनिष्टकारी शक्ति को पहचाना और उन्होंने शूद्रों की शुद्धि की व्यवस्था की। आगे चलकर महात्मा गांधी ने निरंतर संघर्ष के पश्चात शूद्रों को हरिजन बनाकर उन्हें हिन्दू-समाज का अभिन्न अङ्ग बनाने का प्रयास किया। यह धार्मिक उदारता युग की आकांक्षा को पूरी करने वाली थी अतः प्रगति का लक्षण थी। किन्तु फिर भी ऐसे समुदाय शेष बचे रह गए जिनमें अवतार-पूजा और ऊँच-नीच की कट्टरता थी। किन्तु प्रगति की एक लहर आरम्भ हो चुकी थी, आरम्भ ही नहीं शक्ति भी प्राप्त कर रही थी।

युग की आवश्यकता के अनुसार अपने धर्म में परिवर्तन करने के साथ-साथ पश्चिमी सभ्यता और धर्म की निन्दा भी की जाने लगी और उसका मजाक उड़ाया गया। कुछ हद तक यह उचित भी था। पश्चिमी सभ्यता के दोषों को देखकर भारतीय लोगों में उसके प्रति बढ़ता हुआ आकर्षण लीन हो गया। किन्तु इस प्रवृत्ति का एक दोष यह भी हुआ कि युग की प्रवृत्तियाँ संकुचित होगईं। पश्चिमी राष्ट्रों की उन्नति से लाभ उठाना भी आवश्यक था। इसी बात को पहचानकर राजा राममोहन राय और सरसैयद अहमदखॉ ने पश्चिमी ढंग की शिक्षा का स्वागत किया। उनके इन प्रयासों में अन्य उद्देश्य भी निकाले जा सकते हैं। किन्तु हिन्दी का विद्यार्थी जानता है कि इतिवृत्तात्मक काव्य में पश्चिम के प्रति तिरस्कारपूर्ण व्यंग्य भरे पड़े हैं।

(हिन्दी-साहित्य में आरम्भ से ही प्रकृति का आलम्बन रूप दिखाई नहीं देता। उसके सौन्दर्य और व्यापारों में नायक या नायिका की मनोदशा का प्रतिबिम्ब दिखाया जाता है और मानवीय भावों के उद्दीपन में प्रकृति का उद्दीपन रूप प्रदर्शित किया जाता है। भारतेन्दुकाल की कविता में भी यही प्रवृत्ति रही। इस सत्य की ओर किसी का भी ध्यान नहीं गया कि प्रकृति यदि भावों को उद्दीप्त कर सकती है तो उन्हें जगा भी सकती है। जीवन में प्राकृतिक दृश्यों की सौम्य रमणीयता या लुब्ध भयंकरता देखकर हृदय में दर्ष या

आतंक का उद्रेक होता है। द्विवेदी युग में अवश्य कवियों की दृष्टि प्रकृति के सम्बन्ध में अधिक व्यापक हुई और यह उदारता उत्तरोत्तर बढ़ती गई। पन्त को तो कविता की प्रेरणा ही प्रकृति की गोद में मिली।)

इतिवृत्तात्मक युग की प्रवृत्तियों का संक्षिप्त निरूपण कर लेने के पश्चात् अब पन्त-साहित्य में इनका स्थान तथा रूप देखा जायगा।

सब से पहले काव्य के बहिरंग पर विचार करना उचित होगा। इतिवृत्तात्मक युग में विषयों की विभिन्नता और भाषा की सरलता काव्य के दो गुण थे। शैली में अलंकारों की उपेक्षा का कारण रीतिकाल के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी। वह खड़ी बोली का आरंभिक साहित्यिक रूप था। उसमें साहित्योचित विकास होना आवश्यक था। श्री मैथिलीशरण गुप्त और मुकुट धर पाण्डेय की रचनाओं में नवीन प्रयोग पाए जाने लगे जिन्हें शुक्लजी ने छायावाद का आरम्भिक रूप माना है और श्री नन्ददुलारे वाजपेयीजी ने उसे छायावाद का आरंभिक रूप मानना अस्वीकार किया है। जो भी हो इस बात से तो कोई भी इन्कार नहीं कर सकता कि उन प्रयोगों में इतिवृत्तात्मक काव्य की अपेक्षा नूतनता अवश्य थी। इधर प्रसादजी ने छायावादी रचना 'आँसू' प्रस्तुत की और इसके पश्चात् ही पन्त का 'पल्लव' सामने आता है। 'पल्लव' से पूर्व पन्त का एक कविता संग्रह 'वीणा' के नाम से और एक खंड-काव्य 'ग्रन्थि' छप चुके थे। 'पल्लव' की शैली छायावादी शैली है। इससे पूर्व की कृतियों की शैली में छायावादी प्रयोगों का प्रायः अभाव सा है। ('वीणा' के कुछ इने-गेने छायावादी प्रयोग छोड़ कर) क्या इन पूर्ववर्ती रचनाओं की शैली इतिवृत्तात्मक कविताओं की शैली के समान है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें दोनों प्रकार की रचनाओं की शैली के विवेचन में ही न उलझ कर उन दोनों के विषय के भेद पर जाना पड़ेगा। इतिवृत्तात्मक रचनाओं में बाह्य वस्तुओं का स्थूल वर्णन होता है, वीणा और 'ग्रन्थि' दोनों में ही हृदय का आवेश मुखर हुआ है। 'वीणा' में 'ग्रन्थि' सा तीव्र भावावेश नहीं है वरन् उसके भावों में सौम्य मोहकता है जो प्रकृति प्रेम का सहज प्रभाव है। कुछेक कविताओं में जिनमें कवि ने अपने को अभावभय बालिका के रूप में प्रदर्शित किया है—भाव का सहज आवेश भी मिलता है किन्तु 'ग्रन्थि' सी

सान्द्र-करुणा-धारा का उसमें नितान्त अभाव है क्योंकि 'ग्रन्थि' के कवि में प्रेम की असफलता की पीड़ा विह्वल हो उठ है। इस भेद के होते हुए भी यह कह सकते हैं कि 'वीणा' और 'ग्रन्थि' दोनों में ही कवि के व्यक्तित्व को स्वच्छन्द अभिव्यक्ति मिली है। और फिर जब हम यह देखते हैं कि इस स्वच्छन्द अभिव्यक्ति के पश्चात् ही 'पल्लव' की प्रौढ़ छायावादी शैली में हृदय की वेदना लहरा उठी है, तब सहज ही इतिवृत्तात्मक कविताओं की शैली और छायावादी शैली के बीच की कड़ियाँ मिल जाती हैं। छायावाद का जन्म एकाएक इतिवृत्तात्मक शैली से नहीं हुआ। 'वीणा' और 'ग्रन्थि' की शैली और इतिवृत्तात्मक शैली में भेद है काव्य के बहिरंग में सौन्दर्य भावना का और अन्तरंग में व्यक्तित्व की प्रधानता की।

अब यहां एक मूल प्रश्न उपस्थित होता है। क्या इतिवृत्तात्मक युग से नवीन युग के विकास में साहित्यकारों का ध्यान मुख्यः शैली के परिमार्जन की ओर था या काव्य-विषय की वैयक्तिकता की ओर? इसका उत्तर यही है कि नवीन युग के अवतरण के मूल में मुख्यतः काव्य के अनुभूति-पक्ष का परिवर्तन है। इस उत्तर की सत्यता की परीक्षा इस तथ्य से की जा सकती है जो शैली के परिमार्जन को ही प्रधान मानकर चले उनकी रचनाओं में अनुभूति और अन्वय का नितान्त अभाव हो गया। अनुभूति से रहित होकर काव्य धारा में विकास कर देना कोई अर्थ नहीं रखता। पन्त की रचनाओं की शैली के क्रमिक विकास में भी यही दिखाई देता है। इतिवृत्तात्मक कवियों की दृष्टि बहिर्मुखी थी, उसके अनुकूल ही उनकी शैली में भी सरलता और एक हृद तक नीरसता थी। पन्त की काव्य दृष्टि अन्तर्मुखी थी और उसके अनुकूल ही 'वीणा' और 'ग्रन्थि' की शैलियों में सौंदर्य का निखार और माधुर्य का प्रवाह दिखाई देता है। पल्लव में उसकी वैयक्तिक अनुभूति और भी तरंगित हो उठी और उसकी शैली का सौंदर्य और माधुर्य चरम सीमा तक जा पहुंचा।

यहीं पर छायावाद सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण विवाद पर भी विचार करना अप्रासंगिक न होगा। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद को अपने संकुचित अर्थों में शैली विशेष माना है जिसकी विशेषताएँ हैं—लाक्षणिक

मूर्तिमत्ता विरोध चमत्कार, अन्योक्ति विधान प्रतीक विधान, विशेषण विपर्यय और मानवीकरण । विद्वानों का एक दल छायावाद को शैली ही नहीं वरन् एक विशिष्ट काव्य-दर्शन का भी वाहक मानता है । और छायावाद की भावगत विशेषता है करुणा की विवृति । श्री नन्ददुलारे वाजपेयी ने छायावाद को आध्यात्मिक रुचि का विशिष्ट रूप माना है जो मध्ययुग के कवियों की आध्यात्मिकता से भिन्न है । छायावाद की इन विविध व्याख्याओं को देखकर साहित्य का विद्यार्थी आश्चर्य चकित है । साहित्य के किसी भी वाद पर इतनी अधिक और एक दूसरे के नितान्त भिन्न - विरोधी तक व्याख्याएं नहीं दी गई हैं । इन विभिन्नताओं को देखकर ही यह अनुमान होता है कि सभी विद्वान कोई मौलिक मूल किए बैठे हैं जिसकी ओर अभी तक किसी का ध्यान नहीं गया । और यह मौलिक भूल है “छायावाद” नाम की यथार्थ महत्ता न समझना । किसी ने छायावाद नाम का सम्बन्ध *phantasmata* से जोड़ा है, किसी ने उसे मोती की छाया से जोड़ा है, किसी ने यह कहा है कि जिन रचनाओं में अनुभूति छाया सी धूमिल और अस्पष्ट हो वह छायावाद के श्रन्तर्गत रख दी गई हैं । ये सब व्याख्याएं गलत हैं क्योंकि उनका आधार ही असिद्ध है । इन विद्वानों ने मूल प्रश्न को उठाए बिना ही निर्णय देने आरंभ कर दिए । मूल प्रश्न जो सब विद्वानों को उठाना चाहिए था यह है कि ‘छायावाद’ नाम को सबसे पहले किसने प्रयुक्त किया । पहले इस प्रश्न का उत्तर पाने पर ही छायावाद शब्दों की व्याख्या देने का प्रश्न आता है । कोई नहीं जानता कि सबसे पहले हिन्दी में छायावाद शब्द का प्रचलन कैसे हुआ, किसने किया, क्यों किया ? इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है अतः यही निष्कर्ष निकलता है कि छायावाद शब्द का प्रयोग बिल्कुल आकस्मिक था, और समाज की भेड़ चाल ने इसे स्वीकार करा लिया । छायावाद शब्द का संबंध *phantasmata* या मोती की छाया आदि से तो तभी जोड़ा जा सकता था जब कि इस शब्द के प्रयोग करने वाले व्यक्ति के सामने इन दोनों में से कोई एक शब्द होता है । *phantasmata* वाला अर्थ तो शुक्लजी का दिया हुआ है न कि मूल प्रयोक्ता का । इसी प्रकार मोती की छाया वाली व्याख्या भी प्रसाद जी की दी हुई है । यदि इन दोनों विद्वानों में से किसी

एक ने इस शब्द का सबसे पहले प्रयोग किया होता तो उसी की व्याख्या मान ली जाती। किन्तु वर्तमान परिस्थिति में तो कोई भी यह नहीं कह सकता कि इन दोनों में से कौन सी व्याख्या ठीक है। ठीक अर्थ तो वही है जो प्रयोक्ता के मन में था और वह मालूम नहीं है। किन्तु क्या प्रयोक्ता के मन में कोई अर्थ था भी? छाया शब्द का सीधा अर्थ है किसी वस्तु की छाया और इसका गुण है अस्पष्टता तो क्या इसका यह आशय होगा कि छायावाद उन्हीं रचनाओं के लिए प्रयोग किया गया जिनमें छाया सी अस्पष्टता थी? नहीं, कतई नहीं। यदि मूल प्रयोक्ता के मन में यह अर्थ रहा भी हो तो भी वह गलत है, क्योंकि श्रेष्ठ रचनाओं में अस्पष्टता का सम्बन्ध देखने या समझने वाले की बुद्धि से ही हो सकता है, रचना से उसका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता।

यदि हम साहित्य के अन्य वादों—यथार्थवाद, आदर्शवाद, प्रगतिवाद, रहस्यवाद को देखें तो यह स्पष्ट होता है कि विशिष्ट प्रकार की रचनाओं की प्रधान प्रवृत्ति को देखकर ही उनका नामकरण किया गया है। इसलिए इन नामों तथा इन वादों में आने वाली रचनाओं के सम्बन्ध में किसी भ्रम का अवकाश नहीं रहता। इससे एक महत्वपूर्ण बात यह स्पष्ट होती है कि साहित्य क्षेत्र में रचनाओं के स्वभाव और आकांक्षाओं को देखकर ही उनका वर्गीकरण किया जाना और बाद विशेष का नामकरण करना ही अपेक्षित पद्धति है। जिस रचना में यथार्थ का, चित्रण होगा वह यथार्थवादी कहलाएगी और जिसमें आदर्श का विधान होगा वह आदर्शवादी कहलाएगी। किन्तु क्या जिस रचना में छाया (अस्पष्टता) की प्रधानता होगी वह छायावादी कहलाएगी? क्या मजाक है। तो मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि छायावाद नामकरण मानव समाज में प्रचलित नामकरण की पद्धति पर हुआ है। कहीं तो 'आंखों के अन्धे नाम नैनसुख' और कहीं 'धन के राजा नाम गरीबा।' साहित्य गत वादों में रचनाओं से वादों के नाम की सार्थकता होती है, नाम की सार्थकता से रचनाओं की व्याख्या नहीं की जा सकती और हिन्दी के आलोचक छायावाद नाम की सार्थकता से उस वाद के भीतर आने वाली रचनाओं की व्याख्या करने का प्रयत्न करते हैं। अतः छायावाद नाम का

अर्थ सम्बन्धी विवाद भ्रम मूलक है ।

यथार्थवाद और आदर्शवाद आदि नाम तो रचना के अन्तरंग की दृष्टि से रखे गए हैं । यथार्थ भावना (प्रणय आदि) आदर्श-मोह, अज्ञात-प्रेम तथा प्रगति-प्रेरणा के अतिरिक्त कोई भी मूल प्रवृत्ति नहीं बचती । यथार्थ भावना में करुणा और वेदना का भी समावेश हो ही जाता है । अतः छायावाद को एक शैली विशेष मानना ही उचित है, जिसमें किसी भी प्रकार की भावना की अभिव्यक्ति हो सकती है । 'सुमित्रानन्दन पन्त में मैंने पन्त की कविताओं के ही कुछ ऐसे कुछ ऐसे उदाहरण दिए हैं जिनमें छायावादी शैली में यथार्थ, आदर्श, या प्रगति सम्बन्धी आकांक्षाएँ प्रस्तुत की गई हैं । यदि कोई यह कहे कि छायावाद का सम्बन्ध किसी विशिष्ट भावना-वेदना आदि—से है तो क्या उसका सम्बन्ध आदर्श भावना या रहस्य भावना से नहीं माना जा सकता ? जहाँ तक शैली का प्रश्न है महादेवी और आँसू की शैली में कोई भेद नहीं है । फिर एक रहस्यवादी क्यों और दूसरी छायावादी क्यों ? यह कहा जा सकता है कि छायावादी शैली में वेदना की विवृति (आँसू), तथा रहस्य-भावना ('कामायनी' 'महादेवी') की प्रधानता है । इसके अतिरिक्त छायावादी शैली में अन्य भावनाएँ भी मुखर हुई हैं ।

यह कहा जा चुका है कि 'पल्लव' में आकर पन्त में छायावाद का यौवन देखने को मिलता है । कुछ अस्वाभाविक प्रयोग भी पाए जाते हैं । कविता का विषय है व्यक्तिगत करुणा । किन्तु 'गुंजन' में पहुँचकर पल्लव की मृदुल छायावादी शैली में व्यवस्था की शक्ति आने लगी । वहाँ व्यक्तिगत प्रेम के अतिरिक्त समाज-कल्याण की भावना को भी छायावादी शैली में मुखरित किया गया है । 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में शैली का एक अन्य ही रूप दिखाई देता है । इतिवृत्तात्मक युग से छायावादी युग की ओर प्रगति नीरसता से सरस सौन्दर्य की ओर प्रगति थी । छायावादी युग के पश्चात् ही लोकभावना को लोक भाषा में ही मुखरित करने का नारा लगाया जाने लगा । व्यक्तिगत अनुभूतियों में ही काव्य को बाँधने वाले पलायनवादी ठहराए गए । काव्य को जीवन के समीप लाने का उपक्रम किया जाने लगा । लोक-कल्याण की भावना शक्ति पकड़ने लगी । यह ऊपर कहा जा चुका है कि गुंजन में ही

पन्त लोक-कल्याण की ओर अग्रसर हो चुका था ।

यहाँ केवल 'युगान्त', 'युगवाणी' और ग्राम्या की शैली पर ही विचार किया जायगा । अन्य विषयों का प्रसंगानुकूल विवेचन आगे किया जाएगा । 'वीणा' के उपरान्त कवि की अनुभूति ने नया मोड़ लिया । फलतः उसकी शैली बदली । गुञ्जन के उपरान्त कवि की चेतना एक नए पथ पर अग्रसर हुई । उसके अनुरूप ही उसकी शैली भी बदल गई । अब उसकी शैली में प्रेम का सौन्दर्य नहीं है, वरन् प्रगति की स्फूर्ति है, उसमें भावावेश की सुकुमारता नहीं है, वरन् चिन्तन की गंभीरता है, उसमें व्यक्तिगत सपनों की मधुर झंकार नहीं है वरन् सामाजिक चेतना का शक्तिशाली राग है । कवि के दृष्टिकोण के अनुरूप एवं विषयानुकूल शैली का यह परिवर्तन स्वाभाविक था किन्तु इस प्रकार की गद्य की सी शैली में बद्ध सूक्ष्म-सिद्धान्तों की लोकोपकारक रूप में मीमांसा क्या कविता कही जा सकती है ? इसका उत्तर यही है कि युग के अनुसार काव्य का स्वरूप—अन्तरंग और बहिरंग बदल जाता है । इस कविता का मूल्यांकन बुद्धिगत साधारणीकरण के आधार पर किया जा सकता है जैसा कि दूसरी पुस्तक में विस्तारपूर्वक लिखा जा चुका है । पन्त ने स्वयं 'युगवाणी' को गीत गद्य कहा है । क्यों, इसका उत्तर स्वयं पन्त ने दिया है—

“युगवाणी” को मैंने गीत गद्य इसलिए नहीं कहा कि उसमें व्याख्यात्मकता का अभाव है; प्रत्युत, उसका काव्य अप्रच्छन्न, अनलंकृत तथा विचार भावना प्रधान है । युग के खंडहर पर 'युगवाणी' का काव्य-सौन्दर्य प्रभात के ईषत् स्वर्णिम आतप की तरह बिखरा हुआ है, जिसे कला-प्रेमी, ध्वंस के ढेर से दृष्टि हटाकर, सहज ही देख सकते हैं । “युगवाणी की भाषा सूक्ष्म है, उसमें विश्लेषण का सौन्दर्य है ।”

(गद्य-पथ—पृ० ७६)

इन तीनों संग्रहों की कविताओं में द्विवेदी युग की इतिवृत्तात्मक कविताओं की सौन्दर्य हीनता एवं नीरसता के गुण पाए जाते हैं । किन्तु उपर्युक्त समानता के अतिरिक्त द्विवेदी युग के इतिवृत्तात्मक काव्य और इन इतिवृत्तित्मक कविताओं में महान् अन्तर भी है । द्विवेदीयगीन रचनाओं में बाह्य वस्तुओं का

यथा तथ्य वर्णन है और इन कविताओं में पन्त बौद्धिक सिद्धान्तों का यथा तथ्य वर्णन करता दिखाई दिखाई देता है। कहीं-कहीं आलोचना और समन्वय की भावना भी पाई जाती है। इसी के फलस्वरूप इनकी भाषा भी द्विवेदी-कालीन रचनाओं की भाषा से कहीं अधिक सूक्ष्म और सक्षम है। नीरसता और शुष्कता में दोनों प्रकार की रचनाएँ समान हैं। विश्लेषणात्मक और सूक्ष्म होने के कारण पन्त की कविताओं में बुद्धि को तरंगित करने की शक्ति है। 'ग्राम्या' की रचनाओं में तो कई रचनाएँ बिल्कुल इतिवृत्तात्मक सी हैं।

ग्राम्या के पश्चात् कवि के चिन्तन ने फिर एक मोड़ खाया। समतल पर भौतिकता और आध्यात्मिकता का समन्वय करने के पश्चात् उसने ऊर्ध्व तल पर दोनों के समन्वय का प्रयत्न किया। भाषा में भी उन्नयन हुआ। प्रतीक-प्रयोग का बाहुल्य हो गया तथा अन्य छायावादी विशेषताएँ भी दिखाई देने लगीं। पन्त की शैली के इस रूप का विस्तृत विवेचन आगे 'उत्तरा की कला' में किया जाएगा।

द्विवेदी युग में जिन अनेक विषयों को कविता में स्थान मिला था, वे सभी विषय पन्त साहित्य में किसी न किसी रूप में पाए जाते हैं। सबसे महत्वपूर्ण विषय जो इतिवृत्तिात्मक कवियों ने अपनाया था राष्ट्रीय जागरण का। वस्तुतः इसी विषय में राजनीतिक चेतना, आपसी संघर्ष को मिटाने की प्रबल आकांक्षा, अतीत का मोह पश्चिम की निन्दा आदि गुँथे हुए हैं। जहाँ तक राजनीतिक चेतना का सवाल है, कहा जा सकता है कि पन्त ने इसमें सक्रिय भाग नहीं लिया। यह एक आश्चर्य की बात प्रतीत होती है कि अयने युग के सर्वश्रेष्ठ कवियों में से होते हुए भी कवि इस विषय में मौन है। प्रसाद, निराला महादेवी आदि भी इस विषय में मौन से ही हैं। राष्ट्र के स्वातन्त्र्य संग्राम को हिन्दी साहित्य के इन महारथियों का सहयोग प्राप्त नहीं हुआ। इसका क्या कारण है ? इसका प्रत्यक्ष कारण यह है कि इन कवियों का दृष्टिकोण अत्यन्त उदात्त है। भारतीय समाज की समस्याओं के प्रति जागरूक होते हुए भी ये स्वतन्त्रता के संग्राम से बहुत कुछ अलग रहे। इन्होंने ऐसे आदर्श प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया, जो किसी एक देश या

जाति के नहीं विश्व भर के लिए ग्राह्य हो सके। ये मानवतावादी कवि थे। पन्त में हमें यह गुण बड़े स्पष्ट एवं सशक्त रूप में दिखाई देता है। उसने मानवमात्र की समस्याओं को लिया और उन्हें एक सन्तुलित आदर्श में सुलभाने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में पन्त ने वेदांत और उसकी नई व्याख्याएँ गाँधीवाद, मार्क्सवाद, अरविन्द-दर्शन तथा अन्य दर्शन एवं मनोविज्ञान के सिद्धान्तों को परखा और एक ऐसी संस्कृति का आदर्श सामने रखा जिसमें मनुष्य देवत्व को प्राप्त कर सके।

“मानव को आदर्श चाहिए,
संस्कृति, आत्मोत्कर्ष चाहिए ;
बाह्य - विधान उसे हैं बन्धन,
यदि न साम्य उनमें अंतरतम।

× × ×

पूर्ण तन्त्र मानव, वह ईश्वर,
मानव का विधि उसके भीतर !

—चींटी (युगवाणी)

“आकाश झुक रहा धरती पर
बरसा प्रकाश के उर्वर कण,
धरती उसके उर में बुनती
छाया का सतरंग सम्मोहन !
हो रहा स्वर्ग से धरणी का
जड़ से चेतना का रहस मिलन
भू स्वर्ग एक हो रहे शनैः
सुरगण नरतन करते धारण।”

भू-स्वर्ग—उत्तरा पृ० ७५

इतना होने पर भी देश की आजादी के संघर्ष के प्रति पन्त की उदासीनता का समाधान नहीं होता।

द्विवेदी युग में ही हिन्दू जाति के आपसी मतभेदों और संघर्षों को मिटाने का प्रयत्न आरंभ हो चुका था, इसका संकेत ऊपर किया जा चुका है।

किन्तु उस युग की यह एकत्व भावना वर्ण-व्यवस्था पर आकर रुक गई। पन्त ने इस एकत्व भावना को और भी प्रगति दी और इस बात की घोषणा की कि जब तक मानव-समाज में वर्गों, जातियों या वर्णों के भेद रहेगे, उसका कल्याण सम्भव नहीं है। सारे संसार को आपसी मतभेदों को मिटाकर एक कुटुम्ब के समान रहने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि मानव-मानव की समानता को पूर्णरूप से स्वीकार कर लिया जाए। यह समानता केवल बाह्य ही नहीं आंतरिक भी होनी चाहिए (जैसे की ऊपर उद्धृत 'चींटी' कविता की पंक्तियों में स्पष्ट है)। तभी एक नवीन संस्कृति का जन्म हो सकता है।

“जाति पाँति देशो में खंडित भूजन,
धर्म नीति के भेदों में बिखरे मन,
नव मनुष्यता में हों मजित
जीर्ण युगों के अन्तर,
विचरें मुक्त हृदय, अन्तः स्मित,
प्रीति युक्त नारी नर।”

—उद्बोधन—उत्तरा पृ० १७

द्विवेदी युग में प्रणय के उद्गारों पर पूर्ण प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। किन्तु इसके साथ ही साथ नारी स्वतन्त्रता का भी नारा बुलन्द किया था। पुरुषों और स्त्रियों के पारस्परिक सम्बन्धों में समानता के व्यवहार पर स्थित समरसता होना आवश्यक है। जब तक पुरुष नारी को दबाए रखने का प्रयत्न करता रहेगा, तब तक समाज में पूर्ण संतुलन जो प्रगति के लिए अत्यन्त आवश्यक है—नहीं आपाएगा। जब समाज का आधा भाग जड़वत् पड़ा हुआ है उसका कल्याण कैसा? और फिर यदि नारियों संगठित होकर पुरुषों के विरुद्ध संघर्ष भी आरम्भ करें तो भी प्रगति करना असंभव है। पन्त ने भी पुरुष और स्त्रियों की समानता की सबल घोषणा की है—

“हाय, मानवी रही न नारी लज्जा से अवगुंठित,
वह नर की लालस प्रतिमा, शोभा सजा से निर्मित
युग युग की बंदिनी, देह की कारा में निज सीमित,

वह अदृश्य अस्पृश्य विश्व की, गृह पशु सी ही जीवित !

X X X

सामूहिक-जन-भाव-स्वास्थ्य से जीवन हो मर्यादित,
नरनारी की हृदय मुक्ति से मानवता हो संस्कृत ।”

नारी—ग्राम्या पृ० ८५

किन्तु इसके साथ-साथ ही पन्त को पश्चिमी सभ्यता में रंगी हुई स्त्रियों से घृणा है। द्विवेदी युग में भी पश्चिम के प्रति घृणा का भाव मुखरित हुआ था। पन्त ने उन नारियों को बुरी तरह फटकारा है जो तितलियों के समान घूमा करती हैं—

“तुम सब कुछ हो, फूल, लहर, तितली, विहगी, मार्जारी,
आधुनिके, तुम नहीं अगर कुछ, नहीं सिर्फ तुम नारी ।”

आधुनिका—ग्राम्या पृ० ८३

इस दिशा में पन्त ने द्विवेदी युग से आगे निश्चित कदम बढ़ाया है। किन्तु प्रणय के सम्बन्ध में वह द्विवेदी युग की संकुचित नीति से सहमत नहीं है। नर और नारी का प्रेम एक सहज-स्वाभाविक आकर्षण है। उसकी उपेक्षा करना दम्भ के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। इस स्वाभाविक प्रेम में जीवन में नव-स्फूर्ति फूँक देने की शक्ति है—

‘क्या लुधा तृषा औ’ स्वप्न जागरण सा सुन्दर,
है नहीं काम भी नैसर्गिक, जीवन द्योतक ?
बन जाता अमृत न देह - गरल प्रेम - अधर ?
उज्ज्वल करता न प्रणय सुवर्ण, तन का पावक ?”

द्वन्द्व प्रणय—ग्राम्या पृ० ८६

द्विवेदी युग में अतीत की गरिमा के प्रति श्रद्धा की भावना को उद्बुद्ध किया जा रहा था तथा धार्मिकता का पाठ पढ़ाया जा रहा था। पन्त को भी अतीत से मोह है। उपनिषदों से वह विशेष रूप से प्रभावित है। ‘नौका-विहार’, ‘एक तारा’ आदि कविताओं में दर्शन का सुन्दर समावेश है। किन्तु पन्त इस बात से सहमत नहीं है कि जो कुछ प्राचीन भारत में था सभी

।हान था और जो कुछ भी विदेशी है सब लुप्त है। उसने स्पष्ट कहा है कि भारत के अतीत चिंतन में अद्वैत में चेतना की एकता की प्रतिष्ठा की गई है और आज विज्ञान की सहायता से—जो पश्चिम की देन है—चेतन जगत की उस एकता को व्यवहार में भी प्रत्यक्ष किया जा सकता है। पन्त को पश्चिम से घृणा नहीं है। पश्चिम भौतिक उन्नति का प्रतीक है और पूर्व आध्यात्मिक महानता का। दोनों का मधुर सामंजस्य ही अपेक्षित मानव-संस्कृति को जन्म दे सकता है।

पन्त ही नहीं अनेक अन्य विद्वान भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं। न तो कोरा अध्यात्मवाद और न ही कोरा भूतवाद मानव जाति का कल्याण करने में समर्थ है।

द्विवेदी युग की धार्मिकता ने पन्त में आकर बहुत परिवर्तन कर लिया है। धर्म के सम्बन्ध में पन्त के विचार निर्दिष्ट रूप से विस्तृत नहीं हैं। हाँ इतना अवश्य है कि वह ईश्वर की सत्ता पर विश्वास करता है और उत्तरा में उसने 'स्तवन' कविता में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन किया है। किन्तु इसके साथ-साथ यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिए कि वह प्राचीन धार्मिक विश्वासों को उनकी जड़ता के कारण हानिप्रद समझता है। किन्तु पन्त ने विस्तार पूर्वक धर्म-भावना पर कुछ नहीं लिखा है। नवीन संस्कृति के प्रकाश में रखकर ही उसकी धर्म भावना का या आस्तिकता का मूल्याङ्कन किया जा सकता है

—————

उत्तरा की कला

कला शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है। कला का एक अर्थ तो लिया जाता है किसी सौन्दर्यपूर्ण रचना से। हीगेल ने यद्यपि ललित कला और उपयोगी कला का भेद कर मनुष्य की कृतियों को दो भागों में बाँट दिया किन्तु आज हिन्दी के क्षेत्र में कला शब्द का अर्थ ललित-कलाओं के अर्थ में रुढ़ सा हो गया है। हिन्दी के आलोचकों ने साहित्य के लिए कला शब्द के प्रयोग को अनुचित ठहराया है क्योंकि प्राचीन भारतीय साहित्य में साहित्य के लिए कला शब्द का प्रयोग कभी नहीं हुआ। किन्तु प्राचीनकाल में कला शब्द में साहित्य को आत्मसात करने की शक्ति नहीं थी इसका यह अभिप्राय नहीं है कि आज भी वह साहित्य के अर्थ में प्रयोग होने योग्य नहीं है। इस प्रयोग पर दूसरा आक्षेप यह लगाया जाता है कि साहित्य को कला कहने से साहित्यकारों को भी साहित्य में कला सी बारीकी दिखाने की उत्सुकता बढ़ी। किन्तु इसी तर्क का एक दूसरा पहलू भी है जो अधिक ग्राह्य है। कला की सी बारीकी ही साहित्य में क्यों आए और साहित्य का सा रस कला में क्यों न प्रवेश करे ? भवभूति ने भी काव्य को आत्मा की कला कहा है। यह तो हुआ कला का एक अर्थ। इस शब्द का एक दूसरा अर्थ भी है जिसमें कला शब्द के द्वारा रचना-कौशल या प्रभाव-सौन्दर्य का ज्ञान होता है। रचना के लिए कला शब्द का प्रयोग होता है और रचना-कौशल या प्रभाव-सौन्दर्य के लिए भी। उदाहरण के लिए हम कहते हैं कि सूरदास या प्रसाद की कला उत्कृष्ट कोटि की है।

यह कहा गया है कि कला शब्द का दूसरा अर्थ है रचना-कौशल या प्रभाव-सौन्दर्य। कोई पूछ सकता है कि क्या रचना-कौशल और प्रभाव-सौन्दर्य एक ही चीज है ? तो इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि बाह्य वस्तु में जो रचना-कौशल है वही हृदय क्षेत्र में प्रभाव-सौन्दर्य है। प्रभाव का माधुर्य

ही हमें किसी वस्तु की सुन्दरता का परिचय देता है। मनुष्य की सौन्दर्य-भावना भी देश और काल के भेद के साथ-साथ थोड़ी बहुत बदल जाती है। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि सौन्दर्य भावना का कोई अंश सनातन नहीं है। नहीं, यह बात नहीं है। देश और काल के परिवर्तन के साथ-साथ मनुष्यों की रुचि में जो भेद रहता है वह उनकी समानता की तुलना में कम ही होता है। प्रस्तुत निबन्ध में कला से अभिप्राय 'उत्तरा' के गीतों के रचना कौशल या प्रभाव-सौन्दर्य से ही लिया गया है।

पन्त के अनुसार किसी भी कला में सौन्दर्य बोध, गम्भीर अनुभूति और उपयोगी सत्य ये तीन गुण होने चाहिए। उसने स्वयं ही लिखा है—

‘किसी कलाकृति में मुख्यतः तीन गुणों का समावेश रहना चाहिए। (१) सौन्दर्यबोध, (२) व्यापक गम्भीर अनुभूति, (३) उपयोगी सत्य। इनका रहस्य मिश्रण ही कला वस्तु में लोकोत्तरानन्ददायी रस की परिपुष्टि करता है। हमें देखना चाहिए कि कलाकार के सौन्दर्य दर्शन में कितना मार्जन ऊर्ध्व प्राणता तथा रहस्य संकेत है। वह किसी विशेष रुचि या अभ्यास से तो कुण्ठित नहीं, और यदि है तो उसका कारण बाह्य उपादानों में है अथवा अन्तर के भाव सत्य में। दूसरा हमें देखना चाहिए कि उसकी अनुभूति में कितनी गहराई, व्यापकता तथा ऊँचाई है ? उसने जीवन के साथ कितना और किस प्रकार का सामंजस्य स्थापित किया है,—भीतर के जिस दर्पण में उसने मानव जीवन के सत्य को ग्रहण तथा प्रतिफलित किया है वह चेतना कितनी सूक्ष्म प्रभावग्राही तथा अतल स्पर्शी है। तीसरा हमें विचार करना चाहिए उस कृति की उपयोगिता पर—अर्थात् वह केन्द्रीय सत्य को लोक जीवन की भीतरी बाहरी परिधियों तक प्रसारित करती है कि नहीं। इसका सबसे उत्तम उदाहरण हमारे पास तुलसीकृत रामायण है जो व्यक्ति के अन्तर-तम विकास में भी अपने युग की सीमाओं के भीतर, सहायता पहुँचाता तथा लोक समुदाय को भी बल प्रदान करता है।”

गद्य-पद्य—पृ० २०१

सबसे पहले हम उत्तरा की कला को युग तथा कवि की बदलती हुई अभिव्यञ्जना पद्धति के बीच रखकर देखेंगे। पहले बताया जा चुका है कि

किस प्रकार कवि का दृष्टिकोण अन्तर्मुखी होने के कारण काव्य की कला में परिवर्तन आया और हिन्दी साहित्य में छायावाद का जन्म हुआ। इसके पश्चात् जब कवि ने मार्क्सवारी दृष्टिकोण को मुख्यतया अपनाकर मानव की बाहरी तथा भीतरी प्रगति की बात की तो उसकी भाषा में कलात्मकता के अभाव के साथ-साथ विश्लेषण की सूक्ष्मता आ गई। इधर युग की परिस्थितियाँ कवि चेतना को छायावादी सौंदर्य-जाली से बाहर खींचने का प्रयत्न कर रही थीं। ग्राम्या के पश्चात् एक बार फिर कवि के दृष्टिकोण में चेतना एवं संस्कृति का रंग गहरा हुआ और उसकी कला में परिवर्तन आया। इतिवृत्तात्मक युग में रीतिकालीन काव्य धारा में उमड़े हुए अलंकारों के प्रति विद्रोह हुआ। छायावादीयुग में उन्हीं अलंकारों को एक नए रूपमें अपनाया गया था। अभिव्यंजना में सौंदर्य के मोह से कोई भी कवि बचा नहीं रह सकता। कला में अलंकरण के इस मोह ने ही छायावाद को जन्म दिया। छायावादी शैली की विशेषताओं को रूढ़ अलंकारों के नवीन रूप में सहज में ही देखा जा सकता है। लाक्षणिक वैचित्र्य तो पुरानी चीज है ही जिसके मोहक दर्शन घनानन्द के पीर भरे काव्य में होते हैं। प्रतीक विधान रूपकातिशयोक्ति का ही आधुनिक संस्करण है। इस बात पर चौंकने की जरूरत नहीं है। रूपकातिशयोक्ति में रूढ़ उपमान को उपमेय के स्थान पर रख दिया जाता था। प्रतीक विधान में नवीन उपमानों द्वारा उपमेय की व्यंजना का प्रयास दिखाई देता है। इस प्रवृत्ति में आधुनिक युग की स्वच्छन्दता के दर्शन तो होते ही हैं साथ ही साथ भाषा की शक्ति में भी अबाध विकास की रुचि दिखाई देती है। यह सत्य है कि कुछ प्रतीक धुँधले होते हैं और उनके द्वारा अप्रस्तुत पर आने में कठिनाई होती है। संयोग, विप्रयोग आदि की सहायता से उद्दिष्ट अर्थ तक पहुँचने में सुगमता हो जाएगी। प्रकृति का मानवीकरण समासोक्ति के भीतर आ जाता है। इसके अतिरिक्त आनन्दवर्धन ने भी लिखा है—

“भावान चेतनानपि चेतनवच्चेतनान चेतनवत्,
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्येस्वतन्त्रतया ।”

(प्रसाद के ‘काव्य और कला’ तथा अन्य निबन्धों
से उद्धृत—पृ० ३०)

अर्थात् सिद्ध कवि काव्य में चेतन वस्तुओं का अचेतन के समान और अचेतन वस्तुओं का चेतन के समान स्वतन्त्रतापूर्वक और इच्छानुसार प्रयोग करते हैं। अन्योक्ति तो प्राचीन अलंकार है ही। विरोध-चमत्कार और विशेषण-विपर्यय दो विशेषताएँ रह जाती हैं जो पश्चिम और बँगला के साहित्य के प्रभाव के चिह्न हैं।

स्वर्ण काव्य में प्रवेश करते समय पन्त के दृष्टिकोण में एक और विकास आया था जिसका प्रभाव उसकी कला पर पड़ना भी स्वाभाविक था। विषयानुकूल भाषा का परिवर्तन हो जाना नितान्त स्वाभाविक विशेषता है। कवि को एक बार फिर से सूक्ष्म विश्लेषण के सौंदर्य से युक्त भाषा को उदात्त एवं कोमल सौंदर्य में बदलने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। कवि का प्रधान विषय हुआ नवीन संस्कृति के आगमन और स्वरूप के दृश्यों को अङ्कित करना। इसके लिए भाषा को अभिनव सौंदर्य की आवश्यकता हुई। पन्त ने स्वयं लिखा है—

“भावना की चेतना के साथ ही इस युग में भाषा के सौंदर्य में भी परिवर्तन आ रहा है। भाषा अधिक सूक्ष्म तथा प्रच्छन्न हो गई है। ध्वनि व्यंजना तथा प्रतीकों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। एवं भिन्न-भिन्न साहित्यों के अनुशीलन के प्रभाव से बाह्य विन्यास तथा अलंकार आदि भी नवीन रूप ग्रहण कर रहे हैं।”

गद्य-पद्य—पृ० २०८

इन पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि स्वर्णकाव्य और उत्तरा की भाषा में प्रतीक बाहुल्य और सूक्ष्म प्रच्छन्न व्यंजना ये दो गुण पाए जाते हैं। यह भी स्पष्ट है कि उपरोक्त पंक्तियों में कवि अपने युग की भाषा की विशेषता की ओर संकेत नहीं कर रहा है। क्योंकि इस विषय में युग की प्रवृत्ति तो ठीक विपरीत है। निरंतर यह धारणा बलवान होती जा रही है कि सरल और सहज भाषा में ही युग जीवन को अभिव्यक्ति दी जाए। भाषा ऐसी न हो जो साहित्य को जीवन से दूर ले जाए। किन्तु पंत की भाषा को समझने के लिए तो विशिष्ट अभ्यास की अपेक्षा होती है। उसकी भाषा जनभाषा से बहुत दूर है। किन्तु क्या उसकी काव्य चेतना भी युग चेतना से दूर है? इस प्रश्न का उत्तर आगे

दिया जायगा ।

यह हमने देख लिया कि स्वर्णकाव्य और उत्तरा की भाषा अपने युग की भाषा संबन्धी एक वर्ग की आकांक्षाओं की पूर्ण उपेक्षा करती है । किंतु पंत की इस भाषा और कला को भलीभांति समझने के लिये भी आवश्यक है कि उसकी तुलना छायावादी भाषा और कला से की जाए । छायावादी कला के जन्म के मूल में कवि के अन्तर्मुखी दृष्टिकोण की प्रबलता थी यद्यपि उसमें आगे चलकर बाह्यजीवन का चित्र उतारने के भी प्रयत्न हुए किन्तु प्रधानता व्यक्तिगत अनुभूतियों की ही थी । 'पल्लव' के पश्चात् पंत ने अपने अन्तर्मुखी भाव क्षेत्र से बाहर निकलने का प्रयास किया और निरंतर प्रयास के फलस्वरूप वह ग्राम-जीवन के बीच आ खड़ा हुआ । स्वर्णकाव्य और उत्तरा आदि में भी उसकी काव्य दृष्टि बाह्य जगत की ओर तथा नवीन लोक चेतना की ओर लगी है । 'पल्लव' के पंत में और इस काल के पंत में एक प्रधान भेद है कि पहला पंत तो व्यक्तिगत पीड़ा के सागर में गोते खा रहा है और दूसरा पंत लोक चेतना में अवगाहन कर रहा है । दृष्टिकोण के इस मूलभूत परिवर्तन के कारण यह अनिवार्य और स्वाभाविक है कि दोनों रूपों की कला में भी भेद हो । इसके अतिरिक्त 'पल्लव' और 'उत्तरा' की भाषा में भेद का एक कारण और भी है जो विशेष महत्व रखता है । दोनों कृतियों के बीच में पंत ने जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण के अनुरूप ही कला की एक विशेष प्रकार की साधना की थी जो 'युगवाणी' की कविताओं में चरम रूप को प्राप्त हुई । उस साधना का प्रभाव स्वर्णकाव्य और उत्तरा पर भी पड़ना स्वाभाविक था । 'पल्लव' की भाषा में व्यक्तिगत प्रेम की कोमलता और मृदुलता है । युगवाणी की भाषा में बौद्धिक रोष की शक्ति और सूक्ष्मता है । फलस्वरूप उत्तरा आदि परवर्ती काव्य की भाषा में शक्ति और सूक्ष्मता भी मिलती है । छायावादी शैलीकी विशेषताओं में से प्रतीक योजना की बहुलता दिखाई देती है । ग्राम्या के पश्चात् की रचनाओं की शैली में हमें एक प्रकार से छायावादी वायबी शैली और बौद्धिक रचनाओं की शक्तिमान और सूक्ष्म शैली का सामंजस्य सा मिलता है । स्वर्ण काव्य, युग पथ और उत्तरा के क्रमिक विकास में इस नवीन शैली का क्रमिक विकास देखा जा सकता है ।

अब उत्तरा की कला की सामान्य विशेषताओं पर विचार किया जासकता है। उसकी भाषा में संस्कृत पदावली का बाहुल्य है, जो विषयानुरूप है। दिव्य चेतना की ऐश्वर्य-क्रीड़ाओं के गान के लिये देवभाषा की शब्दावली ही सबसे अधिक उपयुक्त है। छन्द योजना में लय का बहुत ध्यान रखा गया है। भावानुरूप लय में छन्द को बाँधने में तो पंत आरम्भ से ही सिद्धहस्त हैं। 'पल्लव' में ही उसने एक ही गीत में अनेक छंदों का प्रयोग किया और एक ही छंद में विभिन्न मात्राओं के प्रयोग सफलतापूर्वक किए थे। विभिन्न मात्रा की पंक्तियाँ रखकर भाव को सजीव करने का सफल प्रयास पंत की रचनाओं में आरम्भ से ही मिलता है। 'उत्तरा' के गीतों में भी इस शैली का प्रयोग हुआ है—

“मैं सुन्दरता में
स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण,
वह बने न बन्धन !
जिस स्वर्ग विभा का
करता मन आवाहन
उस रूप शिखा में
जलें न प्राण शलभ बन ;”

अवगाहन—पृ० १३३

इसी शैली का एक विचित्र प्रयोग 'उद्दीपन' कविता में मिलता है—

फिर लिपटाओ हे
ज्वाला ऽ में
जीवन ऽ मन को !
बिजली घन में, काँप रही थर थर थर,
आँधी बन मैं टूट रही हर हर हर,
तुम फूट पड़ो नव शोभा के से निर्भर,
मत बिलमाओ हे,
पागल ऽ
यौवन के ऽ क्षण को !”

यहाँ वर्तमान की विषमता नवीन चेतना को बुलाने के लिए कवि को उद्दीप्त करती है और वह पुकार उठता है कि तुम फिर से मेरे मन को अपनी दिव्य आभा से भर दो। इस पुकार के पश्चात् वह संक्रांति काल की भीषण परिस्थिति का चित्र खींचता है। वर्य-विषय के अनुकूल ही उसने अधिक मात्रा वाली पंक्तियाँ रखी हैं जो संक्रान्तिकाल की व्यापक भीषणता का परिचय देती हैं। बिजली और आंधी, विपत्ति और संघर्ष के प्रतीक हैं। 'थर थर थर' और 'हर हर हर' नाद सौंदर्य भी अपना विशिष्ट प्रभाव छोड़ता है। 'पल्लव' के गीतों में कला की ये दोनों विशेषताएँ मिलती हैं—

गिरि का गौरव गाकर भर् भर्
मद से नस नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों-से सुन्दर
भरते हैं भाग भरे निर्भर ।”

—पर्वत प्रदेश में पावस

और एकही छन्द में विषम मात्राओं का प्रयोग इस छन्द में—

“नवोढ़ा बाल - लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिंग रुककर
सरकती है सत्वर ;”

‘आलू’ से

उपर्युक्त उत्तरा के उद्धरण में अधिक मात्रा वाली पंक्तियों में वर्तमान दशा का उद्घाटन है जो ‘युगवाणी’ आदि की रचनाओं में पूरे विस्तार के साथ हुआ है। इसीलिए मैं ने उत्तरा की कला को ‘पल्लव’ और ‘युगवाणी’ आदि की रचनाओं की कला का समन्वित रूप कहा है।

संकेत-रूपक

उत्तरा की कला की दूसरी मुख्य विशेषता है सूक्ष्म और व्यंग्य संकेतिकता जो रूपकों में व्यक्त हुई है। जहाँ इस संकेतात्मकता में सौन्दर्य का निखार आया है वहाँ रचनाओं में दुरुहता भी आई है जो कहीं-कहीं दोष बन जाती है। ऐसे आलोचकों की कमी नहीं है जो किसी भी सघन काव्य को

दुरूह बताकर उसकी कला को निम्नकोटि का सिद्धकर देते हैं। ऐसे कुछेक विद्वानों के मत में कामायनी एक निम्नकोटि का काव्य है क्योंकि वह दुरूह है। ऐसे आलोचकों के प्रति मेरा यही विनय निवेदन है कि काव्य की दुरूहता या सरलता में हमें दो सत्ताओं का ध्यान रखना पड़ता है। एक तो रचना का और दूसरा रचना को समझने का प्रयत्न करने वाली बुद्धि का। काव्य की दुरूहता का सम्बन्ध तो काव्य के स्वरूप से हो सकता है और पाठक की बुद्धि से भी। दुरूहता का दोष दिखाकर श्रेष्ठ काव्यों की निम्नता प्रतिपादित करने वाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में तो यही कहा जा सकता है कि वहाँ दुरूहता का सम्बन्ध काव्य के स्वरूप से नहीं, उनकी बुद्धि से ही है। जहाँ काव्य में सचमुच दुरूहता होगी, वहाँ कोई कितना ही तीसमारखाँ हो, उसका स्पष्ट अर्थ नहीं कर सकता। यहाँ मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि किसी भी कविता में दुरूहता का दुर्गुण नहीं होता है। यह महान कवियों में भी होता है। किन्तु उसकी सच्ची परख के लिए तो प्रतिभासम्पन्न आलोचक की आवश्यकता है। उत्तरा में शैली की प्रतीक बहुलता और अर्थ की सांकेतिकता दुरूहता का दोष नहीं है। शैली की प्रतीक-बहुलता ने ही अर्थ की सांकेतिकता को जन्म दिया है जो रूपकों में देखी और समझी जा सकती है। कुछ उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जायगी—

“विचरों प्रिय, उत्तरा गीत पथ !

बढ़ते अगणित ध्वनित चरण,

विचरण करते नीरव युग शत शत !

चुभते शूल, मर्त्य पग लोहित,

भरते फूल, मनो दृग मोहित,

यह बहिरंतर क्रान्ति, श्रान्तश्लथ

चलता जन जीवन, भू लथपथ !”

उत्तरा—पृ० १

इन पंक्तियों में कवि मनुष्य से कहता है कि तुम उत्तरा के गीतों में वर्णित विकास के पथ पर बढ़ते जाओ। इसी कविता में आगे चलकर कवि स्वयं ही स्पष्ट कह देता है “चिर विकास प्रिय जन-भू का मग, ।” इसके

पश्चात् कवि प्रतीक-रूपक द्वारा उस पथ पर बढ़ने वाले समाज का चित्र करता है। इस मार्ग पर असंख्य मनुष्य—सारा समाज, उत्साह के नारे लगाता हुआ बढ़ता जा रहा है। चरण ध्वनित नहीं है चलने वाले गीत गाते हुए चले जा रहे हैं। इसी विकास के मार्ग पर सैकड़ों युग चुपचाप बीतते चले जाते हैं। मानव-समाज आगे बढ़ता हुआ अनेक बाधाओं से भरा हुआ है। मार्ग में अनेक काँटे—जो दुखों और संघर्षों के प्रतीक हैं—बिछे हुए हैं जो मानव समाज के इस कारवाँ में चलने वाले मनुष्यों के पांव में चुभ रहे हैं। उनके पांव खून से लथ-पथ हों गए हैं। किन्तु वे हिम्मत नहीं हारते। हँसते हुए इन काँटों की पीड़ा को सहते हुए बढ़े जा रहे हैं। फूलों का झरना उनकी हँसी का प्रतीक है। उनके मन में उद्देश्य का आकर्षण हिलोरें ले रहा है और लक्ष्य प्राप्ति की कामना में वह आनन्दित हो रहे हैं। अनेक बाधाओं और विपत्तियों को सहकर भी मानव समाज का यह कारवाँ विकास की ओर बढ़ रहा है। यह भीतर और बाहर—संस्कृति और भौतिक परिस्थितियों—दोनों में क्रान्ति का अवसर है। दोनों क्षेत्रों का नव-निर्माण हो रहा है। और उस निर्माण में सफल होने की कामना लिए हुए मानव निरंतर आगे बढ़ता गया है, वह धुलिधूसरित हो गया है। समाज में निराशा और दुख फैले हैं किन्तु कवि पहले ही कह चुका है कि बाधाओं की उपेक्षा करते हुए मानव-समाज हमेशा आगे बढ़ा है और आज भी बढ़ेगा।

इन पंक्तियों में, और अन्यत्र भी ऐसा मिलेगा पन्त ने केवल एक रूप को प्रतीक रूप में स्वीकार नहीं किया है वरन् पूरी घटना और व्यापार को, प्रतीक रूप में चित्रित किया है। ऐसे स्थलों पर हमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों का स्पष्ट सम्बन्ध दृष्टिगोचर नहीं होता—जैसा कि सांगरूपक में होता है। अर्थ तक पहुँचने के लिए सरल उपाय यह है कि अप्रस्तुत से प्रस्तुत पर आया जाए। किन्तु यह वर्णन-पद्धति अन्योक्ति से नितान्त भिन्न है क्योंकि इसमें प्रतीकों के प्रयोग के साथ-साथ प्रस्तुत पद का भी स्पष्ट संकेत रहता है जैसा कि “यह बहिरंतर क्रान्ति” में स्पष्ट है। ‘ध्वनित चरण’, ‘चुभते शूल’ ‘मर्त्य पग लोहित’, ‘झरते फूल’, ‘मनोदग्ग मोहित’, ‘आंतःश्लथ’, ‘भूलथपथ’ सभी प्रतीक हैं, जिनके क्रमशः अर्थ हैं ‘विकास’, ‘बाधाओं का सामना’,

‘बलिदान’, ‘हँसी’, ‘उत्साह’, ‘निराश’ और ‘विपत्तियों में घिरा हुआ’ । इसीलिए मुझे इन वर्णन शैलियों का सांगरूपक नहीं संकेत रूपक या प्रतीकरूपक कहना अधिक उच्युक्त लगता है । उपर्युक्त विवेचन से इस नाम की सार्थकता स्पष्ट है ।

इसी कविता में आगे चार पंक्तियाँ हैं—

“जड़ चेतन के चक्र निरंतर

घूम रहे चिर प्रलय सृजन कर

जय ध्वनि हा हा रव में बढ़ता

युग पथ पर मानवता का रथ !”

यहाँ ‘जड़’ से अभिप्राय है भौतिक और राजनैतिक परिस्थितियों तथा मतवादों का और ‘चेतन’ से अभिप्राय है आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आंदोलन । मानव समाज का इतिहास इस सत्य को प्रकट करता है कि अनादिकाल से भौतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ बदलती रही हैं । इन परिस्थितियों का बदलना ही जड़ और चेतन के निरंतर गतिमान चक्र हैं । इतिहास के प्रत्येक नवयुग के आरम्भ में मृत प्राचीन का नाश भी होता है और सजीव नवीन का निर्माण भी होता है । इस नाश और निर्माण का कारण है भौतिक और सांस्कृतिक चेतना । इस क्रमिक नाश और निर्माण में ही समाज का क्रमिक विकास केन्द्रीभूत है । इस नाश और निर्माण की छाया में भी मनुष्यता का रथ अपने युग के मार्ग पर आगे बढ़ता जाता है । प्राचीन के नाश में हाहाकार है और नवीन के निर्माण में जयध्वनि का हर्ष है । बाद की दोनों पंक्तियों में युद्ध-क्षेत्र व्यंग्य अप्रस्तुत है । समर-भूमि में विजयी योद्धा का रथ आगे बढ़ता जाता है । पराजित होकर कटती-गिरती हुईं सेनाएँ हाहाकार करती हैं और विजयी पक्ष की सेना में जयजयकार का तुमुल घोष होता है । इन पंक्तियों में आज की परिस्थितियों का भी पन्त की दृष्टि से मूल्यांकन किया जा सकता है । आज भी संक्रान्तिकाल है । पूंजीवादी व्यवस्था और समाज-सम्बन्धों का अन्त हो रहा है । विश्ववैक्य पर आधारित नवीन संस्कृति का प्रादुर्भाव हो रहा है । आज के संक्रान्तिकाल में पूंजीवाद के समर्थक और नवसंस्कृति के बाहक दूतों में संघर्ष चल रहा है जिसमें मनुष्यता का रथ विजयी होगा ।

‘अन्तर्व्यथा’ शीर्षक की कविता में कवि संक्रान्तिकाल के सामाजिक के हृदय की विषमता का वर्णन करता हुआ नवीन चेतना के मेघ से बरसने को कहता है ।

“ज्योति द्रवित हो, हे धन !

छाया संशय का तम,

तृष्णा भरती गर्जन,

ममता विद्युत् नर्तन

करती उर में प्रतिक्षण !

करुणा धारा में भर

स्नेह अश्रु बरसा कर,

व्यथा भार उर का हर

शांत करो आकुल मन !”

पृ०—२३

कवि प्रार्थना करता है कि हे नवीन सांस्कृतिक चेतना के मेघ तुम विश्व-प्रेम के प्रकाश के रूप में बरस पड़ो । बादल देखने में काला, घोर और भयंकर दिखाई देता है किन्तु उसके भीतर ही वह रस भरा है जो लुब्ध-तप्त अशान्त जीवन में उमंगों की नई तरंगें उदित करता है । बादल के घिरने पर अन्धकार हो जाता है, गर्जन होती है, बिजली चमकती है और फिर अन्त में प्रफुल्लता प्रदान करने वाली जलधार बरसती है । मेघों का घिरना, अन्धकार का घना होना, गर्जन और बिजली का तड़पना, सभी व्यापार संक्रान्तिकाल के स्वरूप के परिचायक हैं । पन्त ने आगे की पंक्तियों में इसे स्पष्ट किया है । इस संक्रान्तिकाल के वासियों के हृदय में संदेह का अन्धकार छाया हुआ है । आज के युग में मनुष्य प्रत्येक मत को संशय की दृष्टि से देखता है । उसे जीवन के सभी महत् मूल्यों पर अविश्वास होने लगा है । उसके हृदय में तृष्णा रूपी मेघ-गर्जना है । वासना का प्रकोप मनुष्य को प्रतिक्षण व्यग्र किए रहता है । और उसके हृदय में प्रतिक्षण ईर्ष्या की बिजली नाचा करती है । व्यक्ति और राष्ट्र अपने पक्ष के व्यक्तियों और राष्ट्रों के हित के लिए अन्य मनुष्यों और देशों को कुचलने के लिए तत्पर रहते हैं । ऐसी भीषण परि-

स्थितियों में केवल नवीन चेतना ही मानव-मन को मुक्ति प्रदान कर सकती है। इसलिए कवि प्रार्थना करता है कि तुम करुणा की धारा बहाकर तथा प्रेम के आँसुओं को गिरा कर मानव के हृदय की पीड़ा को दूर कर उसे शांति प्रदान करो। घनघोर घटा के घिर आने पर गर्जन और बिजली की तड़प होने पर जल का बरसना प्रायः अवश्यंभावी हो जाता है। उसी प्रकार संशय, तृष्णा और ममता में फँस जाने पर समाज में नवीन संस्कृति का रूप जन्म लेता ही है। इन्हीं पंक्तियों के साथ पन्त की बहुत पहले की ये पंक्तियाँ पढ़ने पर उसके मानसिक विकास की सूत्रबद्धता का गहरा आभास हो जाता है—

“जग के उर्बर अंगन में

बरसो ज्योतिर्मय जीवन !

बरसो लघु-लघु तृण पर

हे चिर अव्यय, चिरनूतन !”

—गुञ्जन

‘भू वीणा’ में पन्त प्रार्थना करता है—

आज करो फिर भू जीवन की

वीणा को नव भङ्गत,

उसकी गोपन आकांक्षाएँ

नाच उठें स्वर मुखरति !

मर्म कथा मूच्छित जो निःस्वर

भाव गीत विस्मृत जो सुन्दर,

स्वप्न ध्वनित कर अमर स्पर्श से

उन्हें करो नव जाग्रत !” पृ० ४२

कवि प्रार्थना करता है कि हे ईश्वर आज तुम मनुष्य की जीवन रूपी वीणा से नवीन राग उत्पन्न करो। जिससे उसकी पिसती हुई इच्छाएँ वाणी में प्रकट होकर आनन्दप्रद बन जाएँ। वीणा के तारों में स्वर लहरी जाग उठती है। इसी प्रकार आज हृदय के तार-मूक हैं। उनकी आशाएँ-अभिलाषाएँ पिसती जा रही रही हैं। उनमें से एक बात को आगे की चार पंक्तियों में स्पष्टतया कहा गया है। मनुष्य की रमणीय जीवन कथा उसके हृदय में छिपी हुई है। वह नवजीवन की आकांक्षा करता है किन्तु अभी तक वर्तमान की विषमता

उस आकांक्षा का दबाए हुए है। मनुष्य सुन्दर और मधुर भावों के गीत भूल गया है। आज साहित्य में भी नारेबाजी और प्रचारबाजी का बोलबाला होता जा रहा है। तुम अपने दिव्य स्पर्श से उसके हृदय के नूतन स्वप्नों को वाणी प्रदान कर उन भुलाई हुई कथाओं और गीत-रचनाओं का निर्माण करो। जब तक मनुष्य में वर्तमान की भयंकरता का वास है उसके जीवन में आनन्द की कथाओं और सरस गीतों का अभाव ही रहेगा। इनके निर्माण के लिए यह आवश्यक है कि उसके हृदय में नवीन आकांक्षाएँ अदम्य वेग से बज उठें। इसके आगे की पंक्तियाँ हैं—

युग युग के स्मृतितार साधक
हृदय हृदन के मिला मौन स्वर
शोभा शक्ति मधुरिमा में नव
करो विश्व उर स्पंदित !

यहाँ भी हमें पहले अप्रस्तुत संकेतों को समझना होगा। जब वीणा बजाई जाती है तो पहले उसके तार खींचकर ठीक किए जाते हैं। फिर उसके स्वर को तबले आदि अन्य वाद्यों के स्वरों से मिलाया जाता है और तब आनन्दानुभूति में बोर देने वाले संगीत का स्फुरण होता है। मानव जीवन के तारों को बजाने वाले से कवि प्रार्थना करता है कि तुम प्राचीन युगों की स्मृति के तारों का ठीक करो, फिर प्रत्येक मनुष्य के हृदय में समान उत्साह, प्रेम और स्फूर्ति का संचार करो और तब संसार के हृदय को नवीन शोभा शक्ति और माधुर्य के राग में अभिव्यक्त करो। नवीन संस्कृति का जन्म कैसे होगा ? प्राचीन युगों की स्मृति से ही हमें नवीन के स्वरूप-निर्माण पर पहुँचने का प्रयत्न करना होगा, और फिर नवीन युग में पदार्पण करने के लिए केवल बाह्य साम्य ही आवश्यक नहीं है, इसके लिए हृदय के साम्य की आवश्यकता है। कवि बहुत पहले ही कह चुका था। “बाह्य विधान उसे है बंधन, यदि न साम्य उनमें अन्तरतम।” मनुष्यों में मानसिक समानता के अभाव में तो भौतिक समानता मानव के लिए एक बन्धन बनकर ही रह जायगी।

‘भू जीवन’ कविता में पन्त ने लिखा है—

ना, तुमको भी क्या ढँक लेगी
 धरती की वेणी अंधियाली ?
 तुम भूके जीवन के तम में
 दो गूँथा उषा मुख की लाली !
 वह हरी मखमली चोली में
 बाँधे मुकुलों के स्वप्न शिखर,
 तुम उन पर निज चेतना रश्मि
 बरसाओ, वे नव उठें निखर !” ६०-५२

कवि का विश्वास है कि धरती की मोहभरी समस्याएँ और अज्ञान-जन्म विषमताएँ ईश्वर के प्रकाश को नहीं छिपा सकतीं । इसलिए वह प्रश्न करता है कि हे ईश्वर क्या तुम्हें भी धरती की कालिमा अपने में डुबा देगी ? प्रश्न-वाचक चिह्न से कवि ने यह ध्वनित किया है कि ईश्वर की ज्योति धरती के अन्धकार को मिटा देगी । और इसी विश्वास को वह आगे की दो पंक्तियों में प्रकट करता है और ईश्वर से यह प्रार्थना करता है कि तुम इस अभाव-पीड़ित जीवन के अन्धकार को दूर करके उसे उषा की नव लालिमा में रंग दो । स्पष्टतः इन पंक्तियों में व्यंग्य अप्रस्तुत है । रात्रि के पश्चात् सुनहली उषा का आगमन । धरती की अंधियारी वेणी से रात्रि की ओर संकेत है । इधर उषा मुख की लालिमा स्पष्ट ही है । अभाव पीड़ित जीवन के अन्धकार में उषा मुख की लाली को गूँथ देने में एक विशेष सौंदर्य है । संकेत रूपक के साथ ही साथ यहां धरती का मानवीकरण भी है जो अन्त तक चलता है ।

प्रातःकाल हरी वनस्पति के बीच कलियाँ हँसने को व्याकुल दिखाई देती हैं । जब उन पर सूर्य की प्रथम किरण पड़ती है, वे मानो सजग होकर खिल उठती हैं और उनमें एक नया सौन्दर्य उत्पन्न हो जाता है । कवि इस व्यंग्य अप्रस्तुत का निर्वाह करता हुआ कहता है कि धरती हरी वनस्पति की मखमली चोली में कलियों के समान स्वप्न भरे उरोजों को बाँधे हुए है । धरती के हृदय में अनेकानेक नवीन स्वप्न भरे हुए हैं इसलिए स्वप्न शिखर प्रयोग सार्थक है । कवि आगे विनय करता है कि हे ईश्वर तुम धरती के स्वप्न भरे उरोजों पर नवीन सांस्कृतिक चेतना की किरणें बरसाओ जिससे उनमें निखार

आ जाए । हृदय के स्वप्न साकार हो जाएँ ।

आगे 'स्मृति' कविता में कवि लिखता है—

“प्रेयसि की मुख छवि मेघ मुक्त
शशि रेखा सी उगती मन में,
नीरव नभ में विद्युत घन सी,
एकाकी स्मृति जगती क्षण में ।

ज्योत्स्ना में भ्रंभा से कंपित
हलकी फुहार सी पड़ती भर
वह भीगी स्मृति, मानस तट पर
छाया लहरी सी बिखर बिखर ।”

पृ० १११

मेघ रहित आकाश के निर्मल चन्द्रमा की शोभा के समान रमणीय प्रिया की कांति मन में जाग उठती है । प्रिया के मुख का ध्यान आते ही अतीत की मधुर स्मृतियां मन में तड़प उठती हैं । जिस प्रकार शान्त आकाश में एका-एक बादल आ जाते हैं, बिजली का प्रकाश सर्वत्र बिखर जाता है उसी प्रकार एक क्षण में ही एकान्त जीवन के शान्त हृदय में बिजली का बादल घिर आता है । 'एकाकी स्मृति' में स्मृति एकाकी नहीं है वरन् स्मरण करने वाला वियोगी एकाकी है । इसलिए यहां विशेषण विपर्यय है ।

अब कवि प्रकृति के एक मनोहर दृश्य की भूमिका में अपने हृदय में उठी स्मृति के करुण प्रसार का वर्णन करता है । निर्मल आकाश में हल्के बादल आ गए हैं । चन्द्रमा की चांदनी भी बिखरी हुई है । वायु वेग से प्रवाहित है । हल्की-हल्की फुहार पड़ने लगी । ज्योत्स्ना प्रिया की कांति है । भ्रंभा हृदय की व्याकुलता का प्रतीक है । प्रिया की शोभा में हृदय व्याकुल हो रहा है । आँसू की बूँदें भरने लगती हैं । आँसुओं से भीगी स्मृति हृदय पर उसी प्रकार बिखर जाती है जिस प्रकार तालाब के किनारे की उठी हिलोर सारे तालाब पर बिखर जाती है । पन्त की इन पंक्तियों को देखकर अनायास ही प्रसाद के 'आँसू' की ये पंक्तियां याद आ जाती हैं—

‘भँभा भँकोर गर्जन है,
बिजली है नीरद माला,
पाकर इस शून्य हृदय को
सबने आ डेरा डाला ।’

उपर्युक्त विवेच और उदाहरणों के द्वारा मैंने पन्त के संकेत रूपकों की विशेषता दिखाने का उपक्रम किया है। अब इन संकेत रूपकों की छायावादी प्रतीक योजना से एक तुलना की जा सकती है। छायावादी कवि प्रतीकों का प्रयोग कर हृदय की अवस्था का विशद चित्रण करते हैं। एक ही प्रसंग में आए हुए विविध प्रतीकों का समन्वित अन्यार्थ लेकर अप्रस्तुत की कल्पना भी की जा सकती है और की जाती हैं। किन्तु कवि स्वयं ऐसा प्रयत्न नहीं करता कि वह अप्रस्तुत के निर्दिष्ट उद्घाटन के लिए प्रतीकों के अतिरिक्त उसके व्यापारों की ओर भी संकेत करे। पन्त के संकेत रूपकों में यह दिखाया गया है कि वह अप्रस्तुत पक्ष—जो प्रधानतः प्रकृति ही है—से मात्र प्रतीक न लेकर उसके रूप और व्यापकार के निदर्शन का प्रयत्न भी करता है। यहाँ छायावाद शैली से कोई मौलिक भेद नहीं रह जाता। यदि थोड़ा अन्तर है तो केवल इसी बात में कि पन्त आरम्भ से ही प्रकृति का अनन्य प्रेमी रहा है काव्य-विकास की किसी भी अवस्था में वह प्रकृति को पूर्णतः भुला नहीं पाया। उत्तरा में भी वह प्रकृति से प्रतीक ग्रहण तो करता है किन्तु उसके स्वरूप के उद्घाटन का भी प्रयत्न करता है। और यहीं हमें संकेत रूपकों की दुरुहता का कारण भी मिल जाता है। जब कवि प्रस्तुत को निर्दिष्ट अभिव्यक्ति न देकर प्रकृति के रूपों और व्यापारों द्वारा प्रस्तुत स्फुरण करता है तो स्वभावतः प्रकृति का रंग गहरा हो जाता है और मुख्य विषय उसकी छाया में धूमिल हो जाता है।

पंत के काव्य-रूप या कलापक्ष का मूल्यांकन करते समय एक बात हमेशा ध्यान में रखनी चाहिए। और वह है उसका काव्य-विषय। काव्य-विषय को भाव पक्ष नहीं कहा जा सकता क्योंकि भाव पक्ष के भीतर तो काव्य का रस और उसके गुण ही आयेंगे। किन्तु आज की कविता और गद्य साहित्य केवल भाव प्रवण न रह कर बौद्धिक चेतना की भी विशद अभिव्यक्ति करता

है। प्राचीन युग के महाकवियों ने भी अपने युग की सामाजिक चेतना को प्रतिबिम्बित किया ही है। किन्तु आज विज्ञान के युग में यह अनिवार्य सा हो गया है कि प्रत्येक साहित्यकार अपने समाज और युग के प्रति भी सचेष्ट रहे। किसी भी साहित्यकार की महानता की कसौटी रचना परिमाण या शैली सौन्दर्य नहीं वरन् उसकी सामाजिक चेतना की गंभीरता और सम्बद्धता पर निर्भर है। आज का आलोचक किसी भी साहित्यकार का मूल्याङ्कन करते समय पहला प्रश्न करता है—क्या वह अपने युग के प्रति सचेष्ट है या नहीं? यह युग प्रबुद्धता केवल भावात्मक ही नहीं विश्लेषणात्मक भी है, केवल हार्दिक ही नहीं बौद्धिक भी है। क्या सामाजिक चेतना और रस-गंभीरता एक ही चीज के दो नाम हैं? स्पष्टतः ऐसा कहना भ्रम होगा। उसमें बौद्धिक जागरूकता भी आवश्यक है। या तो यह मानना पड़ेगा कि साहित्य का उद्देश्य केवल रस की अभिव्यक्ति ही। ऐसा मानने पर सामाजिक जागरूकता का साहित्य क्षेत्र से वहिष्कार मानना पड़ेगा। किन्तु यह व्यवहार और वर्तमान विश्वासों से प्रतिकूल है। सामाजिक चेतना भावात्मक भी होती है और विश्लेषणात्मक भी।

सुमित्रा नन्दन पन्त भी अपने युग की समस्याओं के प्रति और उसके विकास के प्रति जागरूक है। उसकी सामाजिक चेतना का विशद मूल्यांकन आगे किया जाएगा। यहां संक्षेप में इतना समझ लेना अपेक्षित है कि पन्त ने युग और जीवन के आरोहण अवरोहण की गतिविधि का अध्ययन कर उसके प्रति एक निश्चित दृष्टिकोण अपनाया है जो अरविन्द दर्शन से विशेष रूप से प्रभावित है। प्रभावित इसलिए कहता हूँ कि पन्त के आरंभिक विश्वासों में—जिनका निर्माण अरविन्द के परिचय से पहले ही कवि में हो चुका था—और अरविन्द के सिद्धान्तों में विशेष समानता है। अरविन्द से परिचय हो जाने के पश्चात् उसने अरविन्द दर्शन से बहुत कुछ सीखा और अपनाया। संक्षेप में इसका परिचय देना यहाँ आवश्यक हो गया है। आज का युग संक्रान्ति काल है। नवीन युग का अविर्भाव आवश्यक है। नव युग के आगमन के साथ साथ मानव समाज में नवचेतना का उदय भी हो रहा है। नवचेतना के उदय और नवयुग के आगमन दोनों में अभेद है।

जब नव चेतना का जागरण होगा, नवीन युग का अवतरण होगा तब मानव की चेतना भी बदल जाएगी। आज भी, इस संक्रान्तिकाल में भी, मनुष्यों के हृदय में नवीन युग के स्वप्न लहरा रहे हैं। बस सारे विकासक्रम को समझाने और नवीनयुग के सांगोपांग चित्रण के लिये आवश्यक है कि एक महाकाव्य लिखा जाए। तभी हमें इस विकास धारा का ज्ञान नहीं दर्शन हो सकेगा। अमूर्त सत्य का प्रत्यक्षीकरण उसका ज्ञान है और उसे व्यावहारिक रूप में मूर्त्तिमान करना उसके दर्शन कराना है। प्रत्येक मत का मूल सत्य अमूर्त तथा संक्षिप्त होता है। जब हम उसे व्यावहारिक रूप में दिखाना चाहेंगे तो उसका विशद विस्तार किया जा सकता है। पन्त ने अरविन्द दर्शन के अमूर्त सत्य को ही काव्यात्मक रूप में प्रकट करने का प्रयास किया है। उसने उसका व्यावहारिक प्रत्यक्षीकरण नहीं कराया। यदि ऐसे पात्रों, घटनाओं और देशकाल का निर्माण किया जाए जिसमें अरविन्द के सिद्धांतों का पालन और निर्वाह होता है, तो उसमें विषय-विकास की नवीनता होगी। विषय की नवीनता के साथ-साथ शैली की नवीनता मिलेगी! सामाजिक के लिये विषय में भी रोचकता होगी और शैली की भी। एक बात और भी है। जब विषय व्यापक और विराट होता है तो कवि की प्रतिभा विषय योजना और कला-चमत्कार के सृजन में बंट जाती है। जब काव्य विषय संकुचित और संकीर्ण होता है तो कवि की समस्त प्रतिभा कला-चमत्कार के सृजन में प्रवृत्त होती है।

यह ऊपर कहा जा चुका है कि पन्त ने अरविन्द दर्शन के अमूर्त-सूक्ष्म सत्थों को कलापूर्ण वाणी प्रदान की है। अमूर्त सत्य बीज रूप एवं बहुत स्वरूप होता है। विषय की इस संकीर्णता का प्रभाव कलापक्ष पर पड़ना स्वाभाविक ही है। एक ही विषय को कवि ने बार बार नए नए रूपों में प्रकट करने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि उत्तरा में जो चमत्कार है वह अभिव्यक्ति के नवीन रूपों का है, विषय की नवीनता का नहीं। एक बात ध्यान में रखनी चाहिये। विषय की नवीनता के अभाव में स्वीकृत विषय की महत्ता कम नहीं हो जाती। विषयों की महिमा का कारण उसका विस्तार नहीं उनका औचित्य है। आगे चलकर हम यह देखेंगे कि पन्त का

काव्य विषय क्या है और उसके औचित्य की सीमा क्या है ।

किसी के काव्य के मूल्यांकन के दो ढंग देखने में आते हैं । विद्वानों का एक वर्ग तो ऐसा है जो किसी भी काव्य का मूल्यांकन उसके काव्य विषय के महत्व को देखकर करते हैं । विद्वानों का दूसरा वर्ग काव्य-रूप को ही काव्य की महत्ता का परिचायक मानता है । तथा कथित मार्क्सवादी और अभिव्यंजनावादियों के इन वर्गों के अतिरिक्त एक तीसरा वर्ग भी है जो किसी भी काव्य का मूल्यांकन करते समय उसके रूप और विषय दोनों का ध्यान रखते हैं । यही उचित मत है । पन्त के विषय में भी हमें उसके काव्य के रूप और विषय दोनों का ध्यान रखना होगा । उत्तरा में हमें अभिव्यञ्जना के विविध ढंग मिलते हैं । पन्त के संकेत रूपकों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अरविन्द दर्शन के साथ-साथ उसने प्रकृति का भी चित्रण किया है । पन्त को प्रकृति से भी प्रेम है और अरविन्ददर्शन उसकी सामाजिक चेतना का आधार है । संकेत रूपकों में दोनों ही बातें दिखाई देती हैं । विषय की सूक्ष्मता एवं दुरुहता को कम करने के लिए पन्त ने प्रतीकों का उपयोग किया है । किन्तु शब्दावली की सघनता के कारण प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों के स्वरूपों के स्पष्टीकरण में बाधा पड़ती है । किसी संकेत-रूपक में प्रस्तुत के कुछ अङ्ग स्पष्ट हैं और कुछ तिरोहित तथा किसी में अप्रस्तुत के कुछ रूप निर्दिष्ट हैं और कुछ अव्यक्त । कहीं तो प्रस्तुत से अप्रस्तुत तक पहुँचना पड़ता है और कहीं अप्रस्तुत से प्रस्तुत पर आना पड़ता है । यह भी कहा जाता है कि कहीं-कहीं एक ही पंक्ति से अनेक अर्थ किए जा सकते हैं और सभी अर्थ सिद्ध हो सकते हैं । इसके लिए आवश्यकता केवल इस बात की है कि अर्थ पन्त के दार्शनिक सिद्धान्तों के मेल में हो । तो क्या यह समझना चाहिए कि पन्त विषय के स्पष्टीकरण में असफल रहा ? इस प्रश्न का उत्तर वैज्ञानिक विवेचन के आधार पर ही दिया जा सकता है । शब्दों के जोड़ बाकी द्वारा ही किसी कवि की कला का मूल्यांकन करना एक अजीब मजाक है ।

उपर्युक्त संकेत रूपकों के विवेचन में पन्त की सांकेतिक कला का रूप स्पष्ट करने का उपक्रम किया गया है । यद्यपि यह सत्य है कि पन्त की अधिकांश रचनाओं में सांकेतिक कला का प्राधान्य है जिसकी विशेषताएँ हैं भाषा

में प्रतीकों का प्रयोग और अर्थ की सघनता जो कभी-कभी दुरुहता को छूने लगती है। यह तो उत्तरा की कला का एक रूप है। उसमें एक दूसरे रूप की कला भी लक्षित होती है यद्यपि इसका प्रयोग कम हुआ है। उदाहरण के लिए 'युग संघर्ष' की इन पंक्तियों को देखिए—

“उसका जाग्रत मन करता दिग् घोषण,
अन्तर्मानव का यह युग संघर्षण !
शोषक हैं इस ओर, उधर हैं शोषित,
बाह्य - चेतना के प्रतीक जो निश्चित !
धनिकों श्रमिकों का स्वरूप घर - बाहर,
हास शक्तियों आत्म नाश हित तत्पर ;
चोभ भरे युग शिखर उमड़ते दुर्धर,
टकराता भू ज्वार : लुब्ध भव सागर ।”

पृ० ७

इन पंक्तियों में प्रस्तुत अप्रस्तुत का कोई प्रसंग नहीं है। सीधे-सीधे शब्दों में संक्रांति काल की दशा का विश्लेषण किया गया है। अन्तिम दो पंक्तियों में 'युग शिखर' और 'भू ज्वार' दो प्रतीकों का प्रयोग तो हुआ है किन्तु इनके कारण न तो शब्द-योजना में गम्भीर सांकेतिकता आई है और न ही अर्थ में सघनता। तात्त्विक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इन पंक्तियों की कला युगवाणी की कलासे भिन्न नहीं है। जिस प्रकार युगवाणीमें विचारों की प्रधानता है और शब्द-योजना तत्सम होते हुए भी अर्थ में दुरुहता नहीं है—और है भी तो बहुत कम उसी प्रकार इन पंक्तियों में भी अर्थ जानने के लिए माथा पच्ची नहीं करनी पड़ती। इन पंक्तियों का और युगवाणी की रचनाओं का विषय भी एक सा ही विश्लेषणात्मक हैं और रूप भी एक सा है। किन्तु उत्तरा में शैली का यह रूप बहुत स्वल्प है कि युगवाणी और सभी रचनाओं का यही रूप है। इन पंक्तियों की तुलना 'भू स्वर्ग' की निम्नलिखित पंक्तियों से करने पर दोनों में अन्तर भी स्पष्ट हो जाएगा—

“तुम किन आकाशों में मन को
ले जाती हो नीलिमा तरल ।

तह तह मुझको नीहार रजत
 ढँकलेता खुल उर सा कोमल ।
 अन्तर आभाओं के पथ से
 उठता मन नीरव ध्यान चरण,
 स्वप्नों की कलियों रोओं में
 हँसती भर सौरभ सुरमादन !”

पृ० ७३

यहाँ प्रतीकों की सघन योजना ने अर्थ को अवगुण्टित कर लिया है। युग संघर्ष की ऊपर उद्धृत पंक्तियों में और इन पंक्तियों में विषय का भेद है। वहाँ कवि संक्रान्ति युग का वर्णन करता है और यहाँ नवीन चेतना के दिव्य प्रभाव को वाणी प्रदान करता है। विषय के इस भेद के साथ-साथ अभिव्यंजना में भी भेद आ गया है। अतः यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि जब कवि संक्रान्ति युग की विषमताओं का विस्तृत निदर्शन कराता है उसकी शैली संस्कृत प्रधान होते हुए भी अर्थ की दृष्टि से सुलभी हुई है। जब कवि स्वर्ण-चेतना का वर्णन करता है उसकी शैली भी ऊर्ध्वगामिनी हो जाती है, उसमें प्रतीकों की भरमार हो जाती है और अर्थ कहीं-कहीं इतना उलझ जाता है कि फिर पाठक की बुद्धि इधर-उधर टोकरें खाती फिरती है। ऊपर की पंक्तियों में कवि क्या कहना चाहता है, यह आसानी से स्पष्ट नहीं होता और विद्यार्थी तथा अध्यापक अपनी-अपनी दृष्टि एवं योग्यता के अनुसार उचित अर्थ निकालने का कठिन प्रयास करते हैं। निस्संदेह उत्तरा की शैली में इस प्रकार के दुरुह स्थलों का अभाव नहीं है। किन्तु यह कहना भी गलत होगा कि उत्तरा की कला पूर्णतः दुरुह एवं अस्वाभाविक है। प्रतीकात्मक तथा संकेतात्मक कला में कहीं-कहीं दुरुहता का आ जाना स्वाभाविक सा ही हो जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि साहित्य में प्रतीकों की योजना ही नहीं होनी चाहिए और किसी गुट-विशेष के प्रभाव में आकर सारी प्रतीकात्मक कला का विरोध करना या उसे कला का उत्कृष्टतम रूप बताना दोनों ही मत एकांग अतः अग्राह्य हैं।

पन्त ने स्वयं एक भाषण में साहित्य की कला के सम्बन्ध में अपने दृष्टि-

कोण स्पष्ट किए हैं—

“साहित्य तथा कला का एक बाहरी स्पष्ट रूप भी होता है, उसका भी अपना एक जीवन होता है और वह भी परस्पर के आदान-प्रदान, अध्ययन-मनन आदि से घटता-बढ़ता तथा बदलता रहता है। वह स्वरूप लेखकों के व्यक्तित्वों, उनकी शैलियों, साहित्यिक प्रथाओं, प्रचलनों तथा छन्द अलंकारों का रूप है, जिसका अध्ययन तथा अभ्यास भी साहित्य-साधना के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। इस स्वरूप का ज्ञान जैसे साहित्य के स्वरों का उसके सा रे ग म का ज्ञान है। जिसकी साधना से आप साहित्य की चेतना को भावना का महाप्राण रूप विधान पहनाते हैं, और उसके सौन्दर्य से हृदय को प्रभावित करते हैं। इसे आप साहित्य का गौण या स्थूल रूप कह सकते हैं। भाव और भाषा में भाव को ही प्रधानता देनी चाहिए किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि भाषा के प्रति हमें विरक्त हो जाना चाहिए। चेतना तथा पदार्थ की तरह भाव तथा भाषा ऐसे अविच्छिन्न रूप से मिले हुए हैं कि एक के बिना दूसरे की कल्पना भले ही की जा सके किन्तु अभिव्यक्ति असंभव है। भावना की चेतना के साथ ही इस युग में भाषा के सौन्दर्य में भी परिवर्तन आ रहा है। भाषा अधिक सूक्ष्म तथा प्रच्छन्न हो गई है। ध्वनि, व्यंजना तथा प्रतीकों का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। एवं भिन्न-भिन्न साहित्यों के अनुशीलन के प्रभाव से बाह्य-विन्यास तथा अलंकार आदि भी नवीन रूप ग्रहण कर रहे हैं।”

गद्य-पथ—पृ० २०८

विषय के विकास के साथ-साथ शैली में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक और अनिवार्य है। इतिवृत्तात्मक युग और छायावादी युग के काव्य रूप और काव्य विषयों में स्पष्ट अन्तर है। उसी प्रकार छायावादी युग और आज के काव्य के अन्तरंग और बहिरंग दोनों में अन्तर है। छायावादी कवियों में समन्वय की भावना पाई जाती है जो व्यक्तिगत है। प्रगतिवादियों ने उसके प्रति विद्रोह किया और जगत के वस्तुपरक अध्ययन और संश्लेषण में प्रवृत्त हुए। एक की भाषा में व्यक्तित्व की सी गहरी सूक्ष्मता थी और दूसरों की भाषा में वस्तुओं की सी स्थूलता। आज, भाषा के नवीन रूप की आवश्यकता

है। साहित्य की कला में परिवर्तन की आवश्यकता है। किन्तु यह नवीन रूप और परिवर्तन विकास की दिशा में होना चाहिए। पन्त ने साहित्य कला को नवीन रूप दिया किन्तु उसके दोष की ओर से कोई भी आलोचक आँख बन्द नहीं कर सकता। और यह दोष है अर्थ की दुरुहता का जो उत्तरा में भी यत्र तत्र मिलता है। यदि 'पल्लव' की कला की तुलना उत्तरा की कला से की जाए तो कुछ उपयोगी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। उत्तरा की कला कवि के शब्दों में ही अधिक "सूक्ष्म तथा प्रच्छन्न" है। यह सूक्ष्मता और प्रच्छन्नता कहीं-कहीं दोष भी बन गई है। एक यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि उत्तरा की कला की सूक्ष्मता का एक कारण विषय की गहनता भी है।

सौन्दर्य-बोध और कल्पना

आधुनिक युग में काव्य के विषय में सत्यं, शिवं, सुन्दरम् का प्रयोग किया जाता रहा है। यह कहा जाता है कि जो सत्य है वही शिव है और जो शिव है वही सुन्दर भी है। किन्तु इतने से ही बुद्धि को सन्तोष नहीं होता और आज के आलोचक इनकी नई व्याख्या करने में प्रयत्नशील हैं। यहाँ हमें केवल यह देखना है कि सौन्दर्य क्या है और साहित्यकार किस प्रकार अपनी कृति में सौन्दर्य की सृष्टि करता है।

पहला प्रश्न सौन्दर्य के सम्बन्ध में स्वभावतः उठता है वह है, सौन्दर्य का स्वरूप क्या है? सौन्दर्य की परिभाषा देने का प्रयत्न अनेक विद्वानों ने किया है। इन परिभाषाओं में कहीं समानता भी है तो कहीं विभिन्नता भी है। इन परिभाषाओं के पचड़े में न पड़कर सौन्दर्य का सामान्य संक्षिप्त विवेचन करना ही अधिक संगत होगा। सौन्दर्य सम्बन्धी कुछ प्रश्नों को लेकर उनके स्पष्टीकरण का प्रयत्न किया जायगा।

सब से पहला और महत्वपूर्ण प्रश्न तो यह है कि सौन्दर्य वस्तुपरक है या व्यक्ति परक? सौन्दर्य वस्तु में रहता है या वस्तु के द्रष्टा मनुष्य में? इसके उत्तर में विद्वानों का एक वर्ग तो यह कहता है कि सौन्दर्य हृदय की चीज है, वह व्यक्तिपरक है। एक दूसरे वर्ग का यह मत है कि सौन्दर्य विषय में रहता है। जब हम यह कहते हैं कि ताजमहल सुन्दर है तो क्या ताजमहल का

सुन्दर गुण और उसकी विशालता का गुण एक ही रूप में उसके गुण हैं। यदि ताजमहल उसी अर्थ में सुन्दर है जिस अर्थ में वह विशाल या सफेद है तो निस्सन्देह सौन्दर्य ताजमहल का विशेषण माना जाएगा और यह मानना पड़ेगा कि सौन्दर्य वस्तु परक है। किन्तु ऐसे व्यक्ति भी हैं जो ताजमहल की निन्दा करते हैं और उसे एक हासोन्मुखी संस्कृति का जड़ प्रतीक मानते हैं। जब हम एक ही वस्तु के विषय में इस प्रकार के विरोधी मत देखते हैं तो यह मानना पड़ता है कि सौन्दर्य वस्तु परक नहीं व्यक्तिपरक है। किन्तु एक बात स्पष्ट है। यदि हम सौन्दर्य को केवल व्यक्ति परक मानें तो एक ही वस्तु के विषय में असंख्य व्यक्तियों के समान निश्चय की अपेक्षा करनी पड़ेगी। ताजमहल को सुन्दर कहने वाला कोई एक व्यक्ति नहीं संसार के करोड़ों लोग हैं। तो जब हम अनेक व्यक्तियों की समान सम्मति देखते हैं तो हमें यह निश्चय करना पड़ता है कि सौन्दर्य विषयगत है। यदि वह व्यक्तिगत होता तो प्रत्येक व्यक्ति की ताजमहल के प्रति विभिन्न धारणा होती। किन्तु ऐसा नहीं है। हमें पहले यह सोचना चाहिए कि वस्तुपरकता का परिचायक क्या है? कब हम यह कह सकते हैं कि अमुक गुण वस्तु परक है? तो इसका एक ही उत्तर है और वह यह कि जब असंख्य मनुष्य किसी वस्तु के विषय में एक ही धारणा बनाते हैं तो हमें उस धारणा को वस्तुपरक मानना चाहिए। व्यक्ति परकता का निश्चय यह देखकर किया जा सकता है कि व्यक्ति विशेष की धारणा को अन्य व्यक्ति स्वीकार करते हैं या नहीं। जब कोई एक व्यक्ति रस्सी के स्थान पर सर्प देखता है, तो रस्सी में सर्प देखना व्यक्ति परक है। अन्य व्यक्ति यह स्पष्ट देखते हैं कि वह रस्सी है सर्प नहीं है। वस्तुपरकता और व्यक्ति परकता के इस एकमात्र मानदण्ड को मान लेने पर यह सत्य सिद्ध होता है कि सौन्दर्य वस्तु परक होता है। किन्तु ऊपर यह कहा जा चुका है कि ऐसे व्यक्ति भी हैं जो ताजमहल को शोषणा का प्रतीक मानते हैं और उसे धृणा की दृष्टि से देखते हैं। उनके उत्तर के लिए पहला प्रश्न तो यह है कि क्या वह ताजमहल को कुरूप और भद्दा मानेंगे? स्पष्टतः ऐसा नहीं है। फिर भी वह उसकी गरिमा की अपेक्षा करते हैं। इसका कारण है उनका विशेष दृष्टिकोण। प्रत्येक वस्तु का मूल्यांकन उसकी उपयोगिता की दृष्टि से करते हैं। जो वस्तु

उपयोगी है वह सुन्दर है जो वस्तु उपयोगी नहीं है वह सुन्दर नहीं है। सौंदर्य और उपयोगिता के विषय में आगे विचार किया जाएगा। किन्तु इस विवेचन से यहां यह निष्कर्ष निकलता है कि सौंदर्य के निश्चय को व्यक्ति का मानसिक संगठन और बौद्धिक दृष्टिकोण भी प्रभावित करता है। यह स्वीकार कर लेने पर भी कि व्यक्ति की विशेष मानसिक अवस्था में उसकी सौंदर्य-भावना बदल जाएगी सौंदर्य की वस्तु-परकता का खण्डन नहीं होता क्योंकि वस्तुपरकता का परिचायक सिद्धान्त है विभिन्न मनुष्यों की सौंदर्य भावना में समानता। तो यहाँ यह सिद्ध होता है कि सौंदर्य प्रधानकः वस्तुपरक है किन्तु कभी-कभी व्यक्ति की मानसिक अवस्था उसकी सौंदर्य भावना को बदल देती है।

एक अन्य उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। कोई भी इस बात से इन्कार नहीं कर सकता है कि बसंत ऋतु की शोभा सुन्दर एवं सुखद होती है किन्तु वियोगिनी नायिका के लिए अथवा वियोगी नायक के लिए वही दुखद और पीड़क हो जाती है। जो रूप या दृश्य एक के लिए सुन्दर है वही दूसरे के लिए भयङ्कर। संयोगिनी नायिका के लिए जो फूल हैं वियोगिनी के लिए वही अंगार हैं। किन्तु केवल वियोगिनी की भावना को सत्य मानकर वसंत के सौंदर्य को व्यक्तिपरक कह देना कहां तक उचित है? यहां जो भयंकरता है वह वियोगिनी की मानसिक अवस्था के कारण है। यहां एक बात और भी स्पष्ट करने की आवश्यकता है। क्या सौंदर्य वही है जो आनन्दप्रद है? यहां सौंदर्य और आनन्द के सम्बन्ध पर विचार किया जाएगा। उपर्युक्त उदाहरण से ही यह सिद्ध हो जाता है कि इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी दोनों में अभेद नहीं किया जा सकता। सौन्दर्य सुखद होता है। किंतु वह सदैव सुखद नहीं होता। वियोगिनी के लिए वह दुखद है। किन्तु फिर भी वह है तो सौन्दर्य ही। सौंदर्य को सौंदर्य के रूप में ही देखने पर भी उसके प्रभाव की उपेक्षा नहीं की जा सकती। किसी विशेष मानसिक उलझन के अभाव में सौंदर्य का प्रभाव सुख पूर्ण ही होगा। आनन्द या विशेष अवस्था में पीड़ा सौंदर्य का प्रभाव है, मानव मन की सौन्दर्य के प्रति प्रतिक्रिया है।

इसके अतिरिक्त सौन्दर्य भावना में परिवर्तनशीलता के दो कारण और भी हैं। विभिन्न युगों की सौंदर्य भावना में भेद होता है और विभिन्न देशों की सौन्दर्य भावना में भी विभिन्नता दिखाई देती है। आज से हजार वर्ष पूर्व जो सुन्दर था हो सकता है कि आज वह सुन्दर न हो। विद्यापति ने नायक-नायिका के नग्न-चित्रण में ही सौन्दर्य देखा था। किन्तु आज यह भावना बदल गई है और इस प्रकार के नग्नचित्रण साहित्य को कुरूप ही करेंगे। इसके अतिरिक्त भाषा शैली में भी विशेष परिवर्तन दिखाई देता है। अब कवित्त और सवैया उतने सुन्दर नहीं रह गए हैं जितने वे पहले थे। आज मुक्त छन्द भी सुन्दर हैं और अतुकान्त कविता भी। द्विवेदी युग में इति-वृत्तात्मक काव्य के रूप और विषय दोनों सुन्दर माने जाते थे, आज वे सुन्दर नहीं रहे और सौन्दर्य का नया रूप हमारे सामने है। कालानुसार सौंदर्य भावना में परिवर्तन स्वीकार करते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि सभी क्षेत्रों में वह पूर्णतः बदल या उलट गई है। आज भी अनेकानेक प्राचीन कृतियाँ सुन्दर मानी जाती हैं। किन्तु इस मान्यता में हम युग सापेक्षता के सत्य के प्रभाव को अस्वीकार नहीं कर सकते। विभिन्न देशों में भी सौन्दर्य के मानदण्डों में कहीं-कहीं भेद दिखाई देता है। कहीं मोटे तो कहीं पतले होंठ सुन्दर माने जाते हैं, कहीं छोटी तो कहीं बड़ी आँखें सुन्दर मानी हैं और कहीं भूरे तो कहीं काले, केश सुन्दर माने जाते हैं। मोटे होंठों और छोटी आँखों को दूसरे देश चाहे सुन्दर न मानें, किन्तु भूरे केश और नीली आँखों को तो भारतीय भी कुरूप न कहेंगे। यहां यह बात भी स्पष्ट हो जानी चाहिए कि सुन्दर और असुन्दर दोनों एक दूसरे से सापेक्ष हैं।

एक अन्य प्रश्न यह उठता है कि सौन्दर्य सापेक्ष है या निरपेक्ष ? उपर्युक्त विवेचन से यह ध्वनि निकलती है कि सौन्दर्य निरपेक्ष नहीं हो सकता वह सापेक्ष ही है। सौन्दर्य व्यक्ति-सापेक्ष है, काल-सापेक्ष है और देश-सापेक्ष है। सौन्दर्य की ही नहीं किसी भी सत्य की निरपेक्षता के निश्चय में तर्क-वितर्क से विशेष सहायता प्राप्त नहीं हो सकती। सामान्य व्यक्ति का चिन्तन सदैव उसके व्यक्तित्व के अनुरूप ही होगा। व्यक्तिगत रागद्वेषों में जकड़े रहने पर निरपेक्ष का निश्चय करने लगना एक मजाक के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।

यह बात नहीं है कि तर्क की इस विषय में बिल्कुल गति नहीं है। किन्तु मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है कि तर्क को इस विषय में पूर्ण गति नहीं है। उपनिषदों तथा उन पर आधारित विद्वानों ने प्रत्येक व्यक्ति को आत्मा की सापेक्षता में देखा। उपनिषद् में यह स्पष्ट घोषणा की गई “न तु सर्वानां कामये कर्वाः प्रिया भवन्ति आत्मनस्तु कामये सर्वाः प्रिया भवन्ति”—सब वस्तुओं की कामना से वे अच्छी नहीं लगतीं वरन् आत्मा की कामना से अच्छी नहीं लगती हैं। कोई वस्तु क्यों अच्छी है? क्योंकि वह आत्मा का सुख देती है। जब तक पुत्र आज्ञा में रहता है इसके सुख में पिता को सुख है जब तब स्वयं कष्ट सहकर भी पुत्र को सुखी करने में ही पिता को आनन्द आता है। जब पुत्र पिता से विमुख हो जाता है वह अपना सुख पुत्र के सुख से अलगकर लेता है, वह पुत्र से घृणा करने लगता है। जब हम सौन्दर्य के निरपेक्ष रूप की कल्पना करते हैं तो हमें यह मानना पड़ेगा कि निरपेक्ष सत्य तो एक ही होगा। दो निरपेक्ष सत्तों की सत्ता नहीं हो सकती क्योंकि ऐसी अवस्था में दोनों सापेक्ष हो जाएँगे। यदि सौन्दर्य निरपेक्ष है तो एक आत्मा की सत्ता ही माननी पड़ेगी।

अनेक वस्तुओं के सौन्दर्य में भी भेद होता है और उनके प्रभाव में भी। गुलाब के फूल के सौन्दर्य और ताजमहल के सौन्दर्य में भेद है क्योंकि उनके प्रभावों में भेद है। यदि इन दोनों के सौन्दर्य में भेद न होता तो जो प्रभाव गुलाब के फूल देखकर होता है वही ताजमहल को भी देखकर होना चाहिए। किन्तु ऐसा नहीं होता। स्वरूप और प्रभाव के इस भेद का कारण क्या है? इसका कारण यह है कि जब हम गुलाब का फूल देखते हैं तो केवल उसका सौन्दर्य ही नहीं देखते उसकी पृष्ठभूमि को भी देखते हैं और जब हम ताजमहल को देखते हैं तो उसके मात्र सौन्दर्य को ही नहीं उसकी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक भूमिका को भी देखते हैं। सौन्दर्य वस्तु का कोई ऐसा गुण नहीं है जिसका सम्बन्ध उसके समग्र स्वरूप से न हो। वस्तुतः सौन्दर्य वस्तु के समग्र रूप के साथ जुड़ा हुआ है और उसके द्वारा निर्मित भी होता है। प्रत्येक वस्तु के सौन्दर्य में भी भेद हो जाता है। जब हम ताजमहल पहलीबार देखते हैं, तब जैसा प्रभाव होता है वैसा दूसरी या तीसरीबार देखने में नहीं होता।

कावि ने 'शिशुपालवध' में कहा है—

“क्षणे क्षणे यन्नवातमुपैतितदेव रूपं रमणीयता याः”

सौन्दर्य के साथ नवीनता का क्या सम्बन्ध है ? सभी अनुभव करते हैं कि किसी सुन्दर वस्तु के प्रथम दर्शन में जो प्रभाव पड़ता है वह उसके दूसरे या तीसरे दर्शन में नहीं पड़ता क्योंकि वह वस्तु फीकी पड़ जाती है । इसका मनोवैज्ञानिक कारण क्या हो सकता है ? इसका उत्तर यही है कि जब हम किसी वस्तु को प्रथमबार देखने जाते हैं तो उस समय हृदय में जो ललक और जिज्ञासा होती है वह दूसरी बार नहीं रहती । जिस वस्तु के लिए हमारी कामना जितनी ही व्यग्र होगी वह उतनी ही सुन्दर होगी । इससे यह न समझ लेना चाहिए कि वस्तु का सौन्दर्य केवल हृदय की ललक या इच्छा में ही निहित है । वह वस्तु में है तभी तो हम बीसबार देखकर भी ताजमहल को सुन्दर ही कहते हैं और अपने सम्बन्धियों को उसे देखने के लिए आमंत्रित करते हैं । किन्तु इच्छा सौन्दर्य को गरिमा प्रदान करती है इस सत्य से इंकार नहीं किया जा सकता । शॉपनहावर ने तो यहाँ तक कहा है कि जब इच्छा कोई मूर्त्त रूप ग्रहण कर लेती है तो उस मूर्त्तरूप को ही सुन्दर कहते हैं । किन्तु यह परिभाषा सौन्दर्य-सम्बन्धी हमारे सभी अनुभवों की व्याख्या नहीं करती । किन्तु इसमें यह सत्य अवश्य है कि मनुष्य की इच्छा और सौन्दर्य में घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसे 'न तु सर्वानां कामये' आदि में अत्यन्त सरल एवं व्यापक अभिव्यक्ति दी गई है ।

काव्य के सौंदर्य का अपना एक विशिष्ट रूप एवं प्रभाव होता है । काव्य में रूप और विषय दोनों का सौन्दर्य स्पृहणीय है । उसका कला पक्ष भी सुन्दर होना चाहिये और भावपक्ष भी । पन्त ने लिखा है—

“किसी कलाकृति में मुख्यतः तीनों गुणों का समावेश रहना चाहिए ।

१—सौन्दर्य बोध २—व्यापार गंभीर अनुभूति ३—उपयोगी सत्य । इनका रहस्य मिश्रण ही कलावस्तु में लोकोत्तरानन्ददायी रस की परिपुष्टि करता है । हमें देखना चाहिये कि कलाकार के सौंदर्य दर्शन में कितना मार्जन, ऊर्ध्व प्राणता तथा रहस्य संकेत है । वह किसी विशेष रुचि या अभ्यास से कुंठित तो नहीं है, और यदि है तो उसका कारण वाह्य उपादानों में है अथवा अंतर

के भाव में ।”

गद्यपथ पृ० २०१

यहां पन्त ने सौन्दर्य बोध से केवल कलापक्ष के सौंदर्य का अर्थ ग्रहण किया है। यहाँ हमें कला के सौंदर्य पर ही विचार करना है, विषय के सौंदर्य के विषय में आगे विचार किया जाएगा।

पहला प्रश्न तो यह उठता है कि क्या काव्य में सौन्दर्य होना अनिवार्य है ? कुछ लोग विषय के सौंदर्य की उपेक्षा करते हैं, और कुछ रूप के सौंदर्य की। एक यह भावना भी है कि अनलंकृत भाषा में जीवन के सत्य को प्रति-विम्बित करना ही सौंदर्य है। हिन्दु यहां अनलंकृत भाषा ही ऐसे व्यक्तियों के लिये सुन्दर है। कोई भी यह नहीं कहता कि भद्दी भाषा में काव्य किया जाए। अन्तर केवल दृष्टि का है ‘प्रचारात्मक साहित्य में भाषा को सजाने का प्रयत्न नहीं किया जाता, जन-भाषा का ही उपयोग किया जाता है। काव्य की मान्य भाषा की अपेक्षा इसमें सौंदर्य की कमी या नितान्त अभाव भी हो सकता है। किन्तु साहित्य के इस रूप का उपयोग प्रचार के लिये भले ही हो उसे उत्तम साहित्य नहीं माना जा सकता।

अब यह देखना चाहिये कि काव्य रूप के सौंदर्य और अलंकारों में क्या सम्बन्ध है ? कभी तो यह कहा गया था कि सौंदर्य ही अलंकार है तथा काव्य अलंकारों के कारण ही ग्राह्य होता है — “सौंदर्यमलंकारः । काव्यं ग्राह्यमलंकारात् ।” आज से बहुत पहले ही काव्य में अलंकारों के उचित स्थान का निर्धारण कर दिया गया था और उन्हें काव्य के अर्थ की शोभा बढ़ाने वाला धर्म—काव्यार्थान् शोभकरान् धर्मान्—मान लिया गया था। और आज भी यह विचारमान्य है। काव्य रूप का समस्त सौन्दर्य अलंकारों पर ही निर्भर नहीं करता। वे तो सौन्दर्य वृद्धि के उपकरण मात्र हैं। प्राचीन काव्य शास्त्रियों का ध्यान अर्थ के सौन्दर्य की ओर भी गया था। इसी की दृष्टि में रखकर यह कहा गया था कि रमणीय अर्थ का प्रतिपादन करने वाला शब्द ही काव्य है। यह भी स्पष्ट है कि अलंकार अर्थ की इसी रमणीयता को उत्कर्ष प्रदान करते हैं। अलंकारों के अतिरिक्त काव्य का रूप का सौन्दर्य छन्द, लय, शब्द-चयन, सम्बद्धता आदि पर भी निर्भर करता है।

कवि को शैली के सौन्दर्य के साथ ही साध भाव के सौन्दर्य का भी ध्यान रखना चाहिए। भाव के सौन्दर्य को यदि शास्त्रीय शब्दावली में कहें तो उसे भाव का औचित्य कह सकते हैं क्योंकि यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा चुका है कि अनौचित्य से भिन्न रस भंग का कोई कारण नहीं है। व्यापक गम्भीर अनुभूति और उपयोगी सत्य काव्य-विषय के सौन्दर्य की सीमा के भीतर आते हैं। काव्य के रूप का सौन्दर्य उनके विषय की रमणीयता को ऊर्जस्वित कर देता है और उसके विषय का सौन्दर्य निसर्गतः उसके रूप की कमनीयता में मुखरित होता है।

अब शिव तथा सत्य से सुन्दर के सम्बन्ध पर भी विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा। सत्य शिव तथा सुन्दर अभेद को सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिया जाता है वह नितान्त लाचार है। वास्तव में वह कोई तर्क है ही नहीं। वह तो ऐसा है जैसे कोई विद्यार्थी अनभिज्ञता के कारण प्रश्न हल किए बिना ही उसका उत्तर देखकर लिख दे। सत्य, शिव और सुन्दर एक ही वस्तु के अनेक पहलू हैं। किसी भी वस्तु का अध्ययन तथा मूल्यांकन किसी एक ही बँधे हुए दृष्टिकोण से नहीं किया जा सकता। जब आलोचक का दृष्टिकोण बन्ध जाता है और वह अपनी दृष्टि के अतिरिक्त अन्य सभी दृष्टियों को भ्रामक तथा असिद्ध मान लेता है तो उसका निश्चय एकांकी तथा सिद्धान्त अल्पायु रह जाता है। एक ही वस्तु का विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन किया जा सकता है। जब हम किसी वस्तु को हृदय पर पड़े उसके प्रभाव की दृष्टि से देखते हैं तब हम उसे सुन्दर या असुन्दर कहते हैं। जब हम किसी वस्तु की सत्ता एवं संबद्धता को बुद्धि की दृष्टि के द्वारा देखते हैं तब हम उसे सत्य या असत्य कहते हैं। जब हम किसी वस्तु को लोक-कल्याण की दृष्टि से देखते हैं तब हम उसे शिव या अशिव कहते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव यह बताता है कि हरेक वस्तु का मूल्यांकन इन्हीं तीन दृष्टियों के आधार पर करते हैं। सत्य, शिव और सुन्दर एक ही वस्तु के तीन रूप हैं जिनका निर्धारण विभिन्न तीन दृष्टियों से किया जाता है। सत्य, शिव और सुन्दर के इस विवेचन में एक बात अवश्य ध्यान में रखनी चाहिए कि वस्तु के साथ-साथ हमें व्यक्ति तथा समाज के जीवन

को भी देखना होगा । प्रत्येक रूप का मूल्यांकन सामाजिक सम्बन्धों के बीच में ही रखकर करना पड़ेगा ।

कल्पना और सौन्दर्य का क्या सम्बन्ध है ? कल्पना वह साधन है जिसके द्वारा कलाकार अपनी कलाकृति में सौन्दर्य को प्रवाहित करता है । कल्पना सौन्दर्य का निर्माण करती है । किन्तु कैसे ? नवीनता और सौन्दर्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है । कलाकार एक ही अर्थ को कल्पना द्वारा नित्य-नवीन रूप में प्रदर्शित किया करता है । ऊपर यह कहा जा चुका है, कि पन्त ने उत्तरा में संकीर्ण विषय को अभिनव रूपों में प्रकट किया है । जिस कवि की कल्पना शक्ति जितनी ही उर्वरा और विराट होगी, उसकी सौन्दर्य भावना भी उतनी ही सूक्ष्म और गम्भीर होगी ।

अब यह देखेंगे कि उत्तरा में पन्त की कला का क्या रूप है । संकेत रूपों का विस्तृत विवेचन ऊपर हो चुका है और कहीं-कहीं पाई जाने वाली उनकी दुरूहता का भी जिक्र किया जा चुका है । इसके अतिरिक्त पन्त ने अपनी कला में अन्य प्रकार से भी सौन्दर्य का सृजन किया है । पन्त सौंदर्य प्रेमी कवि है । इसलिए उसे प्रकृति के कोमल और रमणीय रूपों ने आकर्षित किया है और संभवतः वर्तमान की विषमता के विशद उद्घाटन में न उलझकर वह नव संस्कृति की शोभा का गान करता है । 'अवगाहन' कविता में वह कहता है ।

मैं सुन्दरता में
स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण,
वह बने न बंधन !
जिस स्वर्ग विभा का
करता मन अवगाहन,
उस रूप शिखा में
जलें न प्राण शलभ बन;
तुम मुझे घेर कर
बरसो, शोभा के धन,

मैं उर शोभा में
स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण !

पृ०—१३२

कवि प्रतिक्षण सौन्दर्य में स्नान करना चाहता है किन्तु उसमें बँधकर या मदहोश होकर नहीं रह जाना चाहता। स्वर्गीय रूप-माधुर्य में वह अपने प्राणों को शलभ के समान जलाना नहीं चाहता। वह तो उससे खेलना चाहता है। सौन्दर्य की कामना करना स्वाभाविक है किन्तु उसमें डूबकर व्यक्तित्व को संकीर्ण बना देना दुर्बलता है। कवि इस दुर्बलता से बचना चाहता है। उसे केवल रूप सौन्दर्य की ही कामना नहीं है वरन् वह हृदय की शोभा का भी प्रेमी तथा आराधक है। वह मानसिक सौन्दर्य में भी प्रतिक्षण स्नान करना चाहता है। नीचे की पंक्तियों में कला का अपूर्व सौन्दर्य मरा हुआ है—

“नभ के स्वप्नों से

जगत जलधि हो रहस ज्वलित,

जो अमर प्रीति से

हृदय रहे नित आन्दोलित !

ऊषा पावक से

भू के कण हों नव चेतन,

तम का कागड जो

खोल सके तन्द्रिल भू मन !”

परिणय—पृ० ४४

यदि हृदय में अमर प्रेम लहराता रहे तो संसार रूपी सागर नित्य ही स्वर्गीय स्वप्नों से आलोकित हो जाए। संसार में नवीन भावनाओं के संचार को इस रूप में अभिव्यक्त कर कवि ने सौन्दर्य का सृजन किया है। आगे के छन्द में भी अभिव्यंजना का सौन्दर्य लक्षित होता है। यदि अलसाया हुआ हृदय अधंकार के किवाड़ खोल दे, तो धरती के कण-कण में ऊषा की स्वर्णिमा ज्वाला कांतिमान हो उठेगी। रात्रि का अन्धकार बीतते ही ऊषा की सुनहली आभा धरती पर बिखर जाती है। स्वप्न वैभव में कवि ने नवीन चेतना की आकांक्षा और आगमन का सुन्दर दृश्य प्रस्तुत करता है—

“मन के वाष्पों का सूक्ष्म जगत

बन रहा स्थूल जीवन का धन,

उसमें घनत्व आ रहा सजल

वह तड़ित गर्भ भरता गर्जन !

लो, अब स्वप्नों का रजत व्योम

हो रहा द्रवित जीवन भर बन,

वह किरणों का रोहित प्रकाश

वितरण करता उर में चेतन !” पृ० ८४

नवीन चेतना की आकांक्षा और उसका वितरण दोनों ही सूक्ष्म सत्य हैं । पन्त ने श्ररविन्द दर्शन के अमूर्त सत्यों को ही मुखरित किया है, उनका वाह्यारिक प्रयोग नहीं दिखाया, उन्हें जीवन से सम्बद्ध करके प्रदर्शित नहीं किया । मानव की बुद्धि मूर्त वस्तुओं को सरलता से समझ पाती है । पन्त ने इन सूक्ष्म सत्यों और व्यापारों को मूर्तरूपों और व्यापारों की पीठिका पर व्यक्त कर उन्हें सहज-गम्य बनाने की चेष्टा की है । जिस प्रकार सूर्य के ताप से जल भाप बनकर उड़ता है, सघन होकर बादल बन जाता है और फिर गरज-गरज कर चमकने लगता है उसी प्रकार वर्तमान की विषमता के दारुण दाह के कारण रमणीय भविष्य की सूक्ष्म-अस्पष्ट कल्पनाएँ उद्बुद्ध होने लगीं । जब सारा समाज ही वर्तमान को बदलने के लिए विह्वल हो उठा तो वे सूक्ष्म कल्पनाएँ सघन हो उठीं, उनमें शक्ति आई । फिर उसने क्रान्ति का रूप धारण किया जिसमें अद्रम्य उत्साह था जो वर्तमान को नाश कर नवीन युग के लाने में प्रवृत्त हुआ । बादल जब सघन हो उठते हैं तो जल की धाराएँ फूट निकलती हैं । उसी प्रकार कल्पनाओं के उज्ज्वल मेघ से नवीन जीवन बरसने लगा जिससे जीवन में नवीन चेतना का प्रकाश बिखर गया ।

उत्तरा में कहीं-कहीं नाद-सौन्दर्य भी दिखाई देता है । कवि ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जिनकी ध्वनि के द्वारा उनका भाव स्पष्ट हो जाता है । नाद और अर्थ का यह सौन्दर्य कला को विशिष्ट गरिमा प्रदान करता है ।

रजत घंटियाँ बजती छुन छुन,

स्वर्णिम पायल भंकृत भन भन,

मैं उर शोभा में
स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण !

पृ०—१३२

कवि प्रतिक्षण सौन्दर्य में स्नान करना चाहता है किन्तु उसमें बँधकर या मदहोश होकर नहीं रह जाना चाहता । स्वर्गीय रूप-माधुर्य में वह अपने प्राणों को शलभ के समान जलाना नहीं चाहता । वह तो उससे खेलना चाहता है । सौन्दर्य की कामना करना स्वाभाविक है किन्तु उसमें डूबकर व्यक्तित्व को संकीर्ण बना देना दुर्बलता है । कवि इस दुर्बलता से बचना चाहता है । उसे केवल रूप सौन्दर्य की ही कामना नहीं है वरन् वह हृदय की शोभा का भी प्रेमी तथा आराधक है । वह मानसिक सौन्दर्य में भी प्रतिक्षण स्नान करना चाहता है । नीचे की पंक्तियों में कला का अपूर्व सौन्दर्य मरा हुआ है—

“नभ के स्वप्नों से

जगत जलधि हो रहस ज्वलित,

जो अमर प्रीति से

हृदय रहे नित आन्दोलित !

ऊषा पावक से

भू के कण हों नव चेतन,

तम का कराट जो

खोल सके तन्द्रिल भू मन !”

परिणय—पृ० ४४

यदि हृदय में अमर प्रेम लहराता रहे तो संसार रूपी सागर नित्य ही स्वर्गीय स्वप्नों से आलोकित हो जाए । संसार में नवीन भावनाओं के संचार को इस रूप में अभिव्यक्त कर कवि ने सौन्दर्य का सृजन किया है । आगे के छन्द में भी अभिव्यंजना का सौन्दर्य लक्षित होता है । यदि अलसाया हुआ हृदय अधंकार के किवाड़ खोल दे, तो धरती के कण-कण में ऊषा की स्वर्णिमा ज्वाला कांतिमान हो उठेगी । रात्रि का अन्धकार बीतते ही ऊषा की सुनहली आभा धरती पर बिखर जाती है । स्वप्न वैभव में कवि ने नवीन चेतना की आकांक्षा और आगमन का सुन्दर दृश्य प्रस्तुत करता है—

“मन के वाष्पी का सूक्ष्म जगत
 बन रहा स्थूल जीवन का धन,
 उसमें घनत्व आ रहा सजल
 वह तड़ित गर्भ भरता गर्जन !
 लो, अब स्वप्नों का रजत व्योम
 हो रहा द्रवित जीवन भर बन,
 वह किरणों का रोहित प्रकाश
 वितरण करता उर में चेतन !” पृ० ८४

नवीन चेतना की आकांक्षा और उसका वितरण दोनों ही सूक्ष्म सत्य हैं । पन्त ने अरविन्द दर्शन के अमूर्त सत्तों को ही मुखरित किया है, उनका वाद्धारिक प्रयोग नहीं दिखाया, उन्हें जीवन से सम्बद्ध करके प्रदर्शित नहीं किया । मानव की बुद्धि मूर्त वस्तुओं को सरलता से समझ पाती है । पन्त ने इन सूक्ष्म सत्तों और व्यापारों को मूर्तरूपों और व्यापारों की पीठिका पर व्यक्त कर उन्हें सहज-गम्य बनाने की चेष्टा की है । जिस प्रकार सूर्य के ताप से जल भाप बनकर उड़ता है, सघन होकर बादल बन जाता है और फिर गरज-गरज कर चमकने लगता है उसी प्रकार वर्तमान की विषमता के दारुण दाह के कारण रमणीय भविष्य की सूक्ष्म-अस्पष्ट कल्पनाएँ उद्बुद्ध होने लगीं । जब सारा समाज ही वर्तमान को बदलने के लिए विह्वल हो उठा तो वे सूक्ष्म कल्पनाएँ सघन हो उठीं, उनमें शक्ति आई । फिर उसने क्रान्ति का रूप धारण किया जिसमें अदम्य उत्साह था जो वर्तमान को नाश कर नवीन युग के लाने में प्रवृत्त हुआ । बादल जब सघन हो उठते हैं तो जल की धाराएँ फूट निकलती हैं । उसी प्रकार कल्पनाओं के उज्ज्वल मेघ से नवीन जीवन बरसने लगा जिससे जीवन में नवीन चेतना का प्रकाश बिखर गया ।

उत्तरा में कहीं-कहीं नाद-सौन्दर्य भी दिखाई देता है । कवि ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है जिनकी ध्वनि के द्वारा उनका भाव स्पष्ट हो जाता है । नाद और अर्थ का यह सौन्दर्य कला को विशिष्ट गरिमा प्रदान करता है ।

रजत घंटियाँ बजती छन छन,
 स्वर्णिम पायल भंकृत भन भन,

स्वप्न मांस के इन चरणों पर
करो प्राण मन अर्पण !

शोभाक्षण—पृ० ७७

घंटियों और पायल के बजने की ध्वनि 'छन छन', 'भन भन' में भरी हुई है। इसके अतिरिक्त 'बजते निःस्वर नूपुर 'छम चम' आदि पंक्तियों में भी नाद सौन्दर्य बिखरा मिलता है। इस पंक्ति में विरोध चमत्कार भी रमणीय है।

उत्तरा के प्रतीक

उत्तरा

शूल = बाधाएँ । फूल = उल्लास । स्थूल घरातल = भौतिक परिस्थितियाँ । जड़ = आर्थिक एवं भौतिक परिस्थितियाँ । चेतन = संस्कृति तथा आध्यात्मिक भावना । स्वप्न = नव युग की आशाएँ ।

युगविषाद

युग-संध्या = पूंजीवादी युग का अन्त । तम-कपाट = निराशा और अज्ञान । प्रकाश का तोरण = नवीन चेतना, आनन्द । नव प्रभात = नए युग का शुभ आरंभ ।

युग छाया

मेघ घटा = विषम समस्याएँ । भीषण परछाईं = क्षोभ का वातावरण । गीध, श्वान, शिवा = हास शक्तियाँ । स्वर्ग रुधिर = स्वर्गीय चेतना । शोणित चेतन = नवीन चेतना । उषा ने स्वर्ण विभा बरसाई = नवीन युग के आगमन के आरम्भ में नई चेतना का प्रसार हुआ ।

युग संघर्ष

तम के घन = निराशा और अज्ञान भरा वातावरण । अन्तर वैभव = मानसिक उत्कर्ष । हृदय की दिव्यता । अन्तर्मानव = मनुष्य का हृदय । युग शिखर = भीषण समस्याएँ । भू-ज्वार = धरती की क्रान्ति । स्वप्न प्रज्वलित = नवीन कल्पना से मुशोभित । आभा के कण = नवीन चेतना का प्रकाश । नत फन = आधीन ।

नव मानव

अग्निचक्षुः=शिव—जिस प्रकार भगवान शिव अपने अग्नि-नेत्र द्वारा प्रलय कर देते हैं, उसी प्रकार नव-मानव ने प्राचीन का नाश कर दिया है। पावक=साहस। ज्योति चरण=ज्ञान के चरण। नव शोणित=नवीन सांस्कृतिक चेतना। लहर=इच्छा। नव स्वप्नों का रचमनोविभव = नवीन कल्पनाओं के अनुरूप दिव्य सांस्कृतिक चेतना का निर्माण।

गीत विहंग

मौन शाश्वत की प्रज्वलित भूमि=सच्चिदानन्द की दिव्य चेतन शक्ति। सुनहली छाया=नई चेतना। नव मधु के ज्वाला पल्लव=नवीन सांस्कृतिक शक्ति से भरे महान आदर्श। शिशिर क्रान्त = नष्ट-भ्रष्ट। प्राणों का पावक=प्राणों की शक्ति। मिट्टी के पैर=जड़ता। अन्तर सोपान = मानसिक शक्ति। आत्म शक्ति के उच्च स्तर। मर्त्य नीड़=क्षणभंगुर सांसारिकता।

जागरण गान

असिधाराव्रत=कठोर निश्चय। शृंग=विश्वास। भयानक धूम=भीषण अशान्ति। महा प्रलय का पावक = नाश की अग्नि। रुद्रबलाहक = भयंकर आंदोलन।

उद्बोधन

स्वन के शिखर=ऊँची इच्छाएँ। हथकड़ियाँ = रुढ़ियाँ। अग्नि-गर्भ युग शिखर=युग का ज्वालामुखी जो फटकर प्राचीन का नाश करेगा और नवीन का निर्माण करेगा। आभा-पंखड़ियाँ=दिव्य भावनाएँ। सत-रंग द्रवित दिगं-तर=दिशाओं में नवीन ऐश्वर्य बिखर गया है।

स्वप्नकांत

ज्वाल-गर्भ शोणित का बादल=भयंकर क्रांति की परिस्थिति। युग स्वप्नों की सौंभ=प्राचीन आदर्शों की अन्तिम अवस्था।

जगत धन

जगत धन=संसार की विषम विपत्तियाँ।

अन्तर्व्यथा

खोलो उर वातायन=हृदय की संकीर्णता दूर कर दो। स्वर्ण किरण=दिव्य

सांस्कृतिक चेतना ।

उन्मेष

लहर=इच्छा । धन = व्यथा । स्वप्न चूड़ शिखर = महान आदर्श । विश्व रूप = विश्व बन्धुत्व ।

आगमन (= नवीन चेतना का आगमन)

मौन गुंजरण=शान्त उत्साह । धूप-छाँह का वन=स्पष्ट और अस्पष्ट आदर्शों से भरा हृदय । मन के भीतर का मन=अतिमन । स्वर्ग=नवीन ऐश्वर्य अमुर=हास-शक्तियाँ । अमर = नवीन चेतना के आराधक । बाहर का रण=भौतिक जीवन सम्बन्धी संघर्ष ।

मौन सृजन (= चुपचाप नवीन युग का सृजन)

नूतन गायन=नवीन सृजन ।

युग विराग (= वर्तमान युग से विरक्ति)

ओसों के संचित कण=प्राचीन विश्वास ।

मेघों के पर्वत (= महान विपत्तियाँ)

उनचास पवन=अशान्ति और नाश । गर्जन=क्रोध । विद्युतकण=ईर्ष्या-द्वेष । दुर्दम फेन शिखर=सशक्त आन्दोलन । पर्वत = विपत्तियाँ । स्वर्ग शिखर =स्वर्गीय युग । अन्तर आभा = मन का प्रकाश ।

प्रगति

कॉटे=विपत्तियाँ । ज्वाल सुमन=रमणीय सफलता । पतभर=नष्टप्राय पूँजीवादी समाज । नव मधु यौवन=नवीन ऐश्वर्य और उल्लास ।

प्रतिक्रिया (वर्तमान की विषमता की प्रतिक्रिया)

अन्तररण=सांस्कृतिक क्रान्ति । प्राणों का सागर=जीवन का आन्दोलन ।

मनोमय (चेतना का वर्तमान स्वरूप)

जीर्ण = निर्बल वर्तमान ।

उद्दीपन (वर्तमान की विषमता द्वारा नवीन चेतना की

भावना का उद्दीपन)

ज्वाला=नवीन चेतना । बिजली धन आँधी=विषम परिस्थितियाँ ।

भू-वीणा (पृथ्वी रूपी वीणा)

युग-युग के स्मृति तार=प्राचीन युगों की सांस्कृतिक महानता—नवीन युग के निर्माण में मानव को प्राचीन युगों के सांस्कृतिक उत्कर्ष से पूरा-पूरा लाभ उठाना चाहिए ।

परिणय (ज्ञान और भावना का, बुद्धि और हृदय का तथा धरती और स्वर्ग का परिणय)

नभ के स्वप्न = स्वर्गीय कल्पनाएँ । जगत जलधि=मानव समाज । ऊषा पावक=नवीन चेतना । भू के कण=जड़त्व में डूबा मनुज जीवन ।

भू प्रांगण (धरती का आँगन)

स्वर्ण हास्य=नवीन सांस्कृतिक चेतना ।

जीवन उत्सव (नव्य जीवन का उत्सव)

स्वप्नज्वाल धरती का अंचल = मानव समाज नवीन इच्छाओं से उद्देलित है । अन्धकार डर रहा आज जल=आज समस्त जड़ता जल रही है ।

रूपांतर (वर्तमान युग का नवीन युग में रूपान्तर)

नव प्रकाश रेखाएँ=पवित्र भावनाएँ ।

भू यौवन (धरती का यौवन—नई चेतना)

रश्मि ज्वलित पा चुम्बन=नवीन चेतना का चुम्बन पाकर ।

भू जीवन

धरती की वेणी अधियाली = मानव का अज्ञान । उषा मुख की लाली= नवीन सांस्कृतिक चेतना । स्वप्न शिखा=महान इच्छाएँ । शतज्वाल गर्भ निश्चल भूधर=शांत ज्वालामुखी, अव्यक्त क्रान्ति । छाया तप=सुख और दुःख । शत भरनों की मर्मर=प्रगति । चन्द्र ज्वलित सागर=महान उत्साह ।

मौन गुंजन

मनस विभा = चेतना । खुला रहस वातायन = नवीन चेतना का उदय हुआ ।

काव्य चेतना

रजत वाष्प का अम्बर=सात्विक भावों से भरा हृदय । मेघों का माया कल्पित घर=नवीन कल्पनाएँ । सुर प्रेरित आभाएँ=दिव्य आकर्षक इच्छाएँ । रोहित प्रेम छायाएँ=स्वर्णिम आशाएँ । सतरंगे शिखर=मोहक आदर्श ।

शशि=मन ।

सम्मोहन (नवीन चेतना का सम्मोहन)

हृदय चेतना (भावना)

मिट्टी के तन्द्रिलरोश्रों में=जड़ता में सोए हुए मनुष्यों में ।

निर्माण काल (नवीन युग के निर्माण का काल)

देव-दूत=नवीन आदर्श । आभा पंखड़ियाँ=अपूर्व सौंदर्य । सुर अप्सरियाँ=भावनाएँ । शिखर-चिरन्तन=शाश्वत विश्वास ।

अनूभूति

शश्वत मधु विभव=अनन्त सौंदर्य ।

आवाहन (नवीन युग के निर्माण के लिए भगवान की पुकार)

मधु के फूलों की ज्वाला = सरस सुषमा । छाया-वाष्पों का अन्तस्तर=मोह भरा हृदय ।

स्वर्ग विभा (स्वर्गीय सौंदर्य)

मिट्टी का तम = भौतिकता का अंधकार । शोभा की आभा=सौंदर्य । शशि मंडल=प्राचीन सामाजिक चेतना । स्वर्णोज्ज्वल भूगोल=नवीन चेतना । युग युग का मानस=प्राचीन विश्वास ।

नव पावक (नवीन चेतना)

शोभा की कलियों का वैभव = अपूर्व सौंदर्य । तरुण भृंग = प्रतिभाशाली कवि ।

गीत विभव (गीतों का वैभव)

भू स्वर्ग (धरती रूपी स्वर्ग)

आकाश=मनोभूमि । नीहाररजत=नवीन भावनाएँ । अंतर-आभाओं का पथ=आलोकित चिन्तन का मार्ग ।

शोभा क्षण

फूलों से लद गए दिशा क्षण=देश और काल सौंदर्य से भर गए हैं ।

युग दान (कवि ईश्वर से नवीन युग का दान मांग रहा है)

जीवन कौपल (नवीन जीवन की कौपल)

स्वप्न युग

छायाश्रोत्रो = अस्पष्ट नवीन भावनाएँ । मन के वाष्प = मन की धूमिल कल्पनाएँ । नव आभा पंख जलद = नवीन स्वर्गीय विचार धारा ।

सत्य

सूक्ष्म वाष्प = सूक्ष्म विचार ।

युगमन (संस्कृति)

मेघ = संशय । अरुणोदय = नवीन युग । रजनी का क्रंदन = निराशा का विलाप ।

छाया सरिता (चेतना)

स्वप्नों के मुकुलों का अपलक मधुवन = नवीन आदर्शों से पूरित रम्य समाज ।

संवेदन

छाया सीता = नवीन चेतना । ज्योतिचिह्न = आशाएँ ।

वैदेही (देह से भिन्न मानसिक)

उर-कलियों = हृदय की भावनाएँ ।

प्रीति

मेघों के उड़ते स्तंभ = महान आदर्श । विद्युत ज्वाला = नवीन चेतना । वाष्पों के कोश = कल्पना । चल जलद = संक्रान्ति काल ।

चन्द्रमुखी (शरद ऋतु, नवीन चेतना)

तारापथ मन = अनेक इच्छाश्रोत्रों से पूरित मन । ज्योत्सना = नवीन चेतना । युग अन्तर = युग चेतना ।

फूल ज्वाल (नवीन चेतना का सौंदर्य)

फूलों के पल = भाव ।

स्मृति

भू के अङ्गार = समाज की विषमताएँ ।

अभिलाषा

कली = अभिलाषा ।

वनश्री

चित्तिज वातायन = हृदय की संकीर्णता । विहगगण = कवि ।

रंगमहल (होली)

नव पल्लव = नवीन इच्छाएँ । रंगज्वाल=नवीन सौन्दर्य ।

×

×

×

कव्य में प्रतीकों के प्रयोग द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने की प्रवृत्ति प्रायः सभी कवियों में लक्षित होती है। प्राचीनकाल में जब कवि और काव्य साहित्यशास्त्रों का आश्रय लेकर चलते थे तो स्वतंत्र प्रतीक योजना की ओर कवियों की प्रवृत्ति बहुत कम दिखाई दी। इस प्रवृत्ति का शास्त्रीय संकीर्ण रूप है रूपकातिशयोक्ति जिसमें उपमेय के स्थान पर उपमान का प्रयोग किया जाता है। इस रूप में एक यह सुविधा अवश्य है कि उपमेय और उपमान का सम्बन्ध पूर्व निश्चित होने के कारण अर्थ-ज्ञान में कठिनाई नहीं होती किन्तु इसके सहज ज्ञान के लिए शास्त्र का थोड़ा बहुत ज्ञान आवश्यक था। आधुनिक युग के आरम्भ में ही काव्य में स्वच्छंदता की प्रवृत्ति प्रबल हुई। यह स्वच्छंदता काव्य के रूप और विषय दोनों क्षेत्रों में लक्षित होती। काव्य के रूप में वह अलंकारों से मुक्ति की ओर अग्रसर हुई। द्विवेदी युग में ही काव्य में अलंकारों के प्रयोग के बढ़ते हुए व्यसन को कम करने का प्रयत्न किया जाने लगा। छायावादी युग में भाषा का अलंकरण तो हुआ किन्तु वह एक नवीन पद्धति पर अग्रसर हुआ। छायावादी शैली के रूपों को अलंकारों की छाया में समझा तो जा सकता है किन्तु एक बात ध्यान में रखनी आवश्यक है कि इस नवीन शैली के चमत्कार के मूल में संस्कृत के अलंकार-शास्त्र नहीं थे। हिन्दी के प्रतिभा-सम्पन्न कवियों ने भी उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि अलंकारों की गंगा-यमुनी एक साथ प्रस्तुत कर अलंकार शास्त्र की अनभिज्ञता का नहीं उसके प्रति अपनी उपेक्षावृत्ति का प्रकाशन किया है। शैली में उत्कर्ष होना चाहिए किन्तु उसके साधन के लिए यह आवश्यक नहीं है कि कोई विशेष बंधन स्वीकार किया जाए। बंधनों के धेरे से बाहर रह कर ही हिन्दी कवि काव्य रूप को नए रूप में संजोने-सजाने में समर्थ हुए हैं। उत्तरा में छायावादी शैली की अन्य विशेषताओं की उपेक्षा प्रतीकों की प्रधानता है। वह प्रधानता इतनी मुखर है कि यदि उत्तरा की शैली को प्रतीकात्मक कहा जाए तो कहा जा सकता है।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि प्रतीक योजना के मूल में कौन सी वृत्ति काम करती है ? इसका एक उत्तर तो यह है कि कवि अपने काव्य को चमत्कार प्रदान करने के लिए प्रतीकों का प्रयोग करता है। प्रतीक योजना की सफलता का मानदण्ड है प्रतीक और प्रस्तुत के रूप तथा गुणों में सादृश्य। यदि प्रतीक प्रस्तुत वस्तु या व्यापार के रूप तथा गुणों को प्रकट करने में सक्षम नहीं है तो उसे बाल-बुद्धि का खिल्वाड़ ही कहा जायगा। प्रतीक-योजना के द्वारा प्रभाव की सघनता और गम्भीरता आनी चाहिए। अब यहाँ एक मौलिक प्रश्न पर प्रकाश डाला जा सकता है। ऊपर यह कहा गया कि प्रतीक-प्रयोग वही सफल है जो प्रभाव की तीव्रता और स्थायित्व का सृजन करता है। यहां काव्य-चमत्कार और प्रभाव की सघनता का सम्बन्ध भली भाँति स्पष्ट हो जाता है। काव्य में केवल रूप का ही नहीं अर्थ का भी चमत्कार होना आवश्यक है। जब क्रोचे यह कहता है कि उक्ति वैचित्र्य या शैली का चमत्कार ही काव्य है तो वह भाषा के ऊपरी विचारों में इतना फँस जाता है कि वह वास्तविकता को भली भाँति देख नहीं पाता। जब हम किसी भी काव्य में उक्ति-चमत्कार दिखाते हैं तो क्या हम अर्थ चमत्कार की भी बात नहीं कहते। पागलों की वे सिर पैर की उक्तियों में और विवेकी पुरुष की उक्तियों में तो भेद होता ही है और यह भेद है अर्थ का। बुद्धि की व्यग्रता ही उक्ति चमत्कार का निर्णय करती है किन्तु वह कभी भी उसमें बंधकर रहना स्वीकार नहीं कर सकती। वह उस उक्ति-चमत्कार के कारणों को भी देखती है और उसके प्रभावों को भी। और उसके लिए ऐसा करना स्वाभाविक एवं अनिवार्य है। हम ऐसे स्थलों में जहाँ उक्ति चमत्कार और प्रभाव गाम्भीर्य का सामंजस्य होता है कल्पना के द्वारा दोनों में भेद तो कर लेते हैं किन्तु तात्विक दृष्टि से देखने पर कला के क्षेत्र में जो उक्ति चमत्कार है वही भाव के क्षेत्र में प्रभाव गाम्भीर्य है। व्यवहार में दोनों अविभाज्य हैं। कहाँ और कब एक समाप्त होता है तथा दूसरा आरम्भ होता है, यह नहीं अनुभव किया जा सकता। विश्लेषण में हम दोनों को अलग-अलग करके देखते तथा दिखाते हैं। विश्लेषण तो व्यवहार को खण्ड-खण्ड करके देखता है। किन्तु अनुभव के उस खण्डित रूप

को ही सत्य मान लेना भ्रम है। काव्य की आत्मा विश्लेषणात्मक नहीं संश्लेषणात्मक है, अखण्ड है। जिस प्रकार भाव का प्रकाश रूप भाषा है उसी प्रकार भाव-गाम्भीर्य का व्यक्त रूप उक्ति-चमत्कार। यहाँ यह नहीं समझना चाहिए कि जहाँ उक्त उक्ति चमत्कार होगा वहाँ भाव गाम्भीर्य भी अनिवार्यतः होगा ही जहाँ भाव गाम्भीर्य होगा वहाँ उक्ति-चमत्कार का होना भी निश्चित है। नहीं ऐसी बात नहीं है। प्रभाव गाम्भीर्य से हीन उक्ति-चमत्कार कोरा चमत्कार और शब्दों का खिलवाड़ कहा जाता है। शैली के अलंकरण के अभाव में भी भाव-प्रवणता रचना को उत्तम काव्य की कोटि में संजो ही देगी। उत्तरा का कवि जो कहना चाहता है वह अत्यंत संक्षेप में प्रकट किया जा सकता है। उस संक्षिप्त विषय को अनेक रूपों तथा प्रकारों में प्रकट करने के लिए प्रतीकों का प्रयोग स्वाभाविक ही था। प्रतीकों ने विषय को स्वर्णिम बना दिया है।

प्रतीकात्मक काव्य में अर्थ सम्बन्धी उलझन की छाया कहीं-कहीं दिखाई देती है। इसका प्रधान कारण है एक ही अर्थ के लिए अनेक प्रतीकों का प्रयोग करना तथा एक ही प्रतीक के द्वारा अनेक अर्थों का बोध कराना। उदाहरण के लिए पन्त ने एक प्रतीक मेघ को दो विरोधी अर्थों—संक्रांति काल की विषमता और नवीन दिव्य चेतना के अर्थों में प्रयुक्त किया है। और एक ही स्वर्णिम चेतना के लिए पावक, सूर्य किरण, फूलों का पावक आदि प्रतीकों का प्रयोग किया है। एक बात सावधानी से समझ लेनी चाहिए। यह दोष नहीं माना जा सकता। जहाँ एक शब्द के ही अनेक अर्थ होते हैं वहाँ संयोग आदि द्वारा उसके अभिप्रेत अर्थ को समझा जा सकता है। इसी प्रकार प्रतीकों के अर्थों को ठीक-ठीक समझने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें कविता के शीर्षक तथा वर्ण्य-विषय के प्रकाश में देखा जाए। उत्तरा में दुरुहता का एक कारण हैं कविताओं के शीर्षकों का प्रतीकात्मक होना। यदि शीर्षक स्पष्ट हो जाता है, कविता का वर्ण्य-विषय स्पष्ट हो जाता है तो उसमें आए प्रतीकों का अर्थ सहज ही समझा जा सकता है। किन्तु जब शीर्षक ही संकेतात्मक हो तो कविता को पढ़कर उसका अर्थ समझना पड़ता है और यदि कविता में प्रतीकों की भरमार हो तो कभी-कभी शीर्षक का अर्थ

लगाने में काफी माथा-पच्ची करनी पड़ती है ।

काव्य में प्रतीकों के प्रभाव के द्वारा एक महान लाभ यह होता है कि भाषा की शक्ति विकसित होती जाती है । एक ही अर्थ के लिए तुल्य रूप तथा गुण वाले अनेक प्रतीक हो सकते हैं और प्रयोग में लाये जा सकते हैं । भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी प्रतीकों का अध्ययन अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होगा । इस प्रकार के उपक्रम के द्वारा शब्दों के अर्थ के विस्तार संकोच, उत्कर्षापकर्ष आदि के बारे में बड़ी जानकारी प्राप्त हो सकती है । प्रतीक योजना का दूसरा लाभ यह होता है कि कवि अमूर्त और सूक्ष्म भावनाओं तथा व्यापारों को मूर्त रूप में प्रकट कर सकता है । इस प्रकार अर्थ में स्पष्टता और प्रभावात्मकता दोनों का समावेश होता है । किन्तु एक ही प्रतीक से अनेक अर्थ निकल सकते हैं और एक ही अर्थ के लिए अनेक प्रतीक हो सकते हैं । प्रतीकों की शक्ति को सीमित करना कवि के बस की बात नहीं है वह तो भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्ति है । किन्तु प्रतीक विधान के द्वारा एक महत्वपूर्ण बात का ज्ञान होता है । जब भी किसी प्रतीक का अर्थ किसी एक अर्थ के लिए रूढ़ हो जाएगा, उनमें निश्चित उपमेय-उपमान सम्बन्ध स्थापित हो जाएगा । फिर उसमें से अनेक अर्थों के ध्वनित होने की आशंका नहीं रहेगी । किन्तु ऐसा होने में काफी समय और प्रयोग की अपेक्षा होती है । उन प्रतीकों के रूढ़ हो जाने पर नए प्रतीकों का निर्माण होगा । प्रयोगवाद में सत्य केवल इतना ही है कि प्रत्येक युग में नए प्रतीकों का निर्माण होता रहता है क्योंकि रूढ़ प्रयोगों की शक्ति निर्बल हो जाती है । इससे आगे बढ़ कर प्रयोगवाद को एक सिद्धान्त रूप में स्वीकार कर नए-नए प्रयोगों की नुमायश करने लगना मजाक के सिवा और कुछ नहीं ।

पन्त ने जहाँ प्रतीकों का सघन प्रयोग किया है वहाँ अर्थ सम्बन्धी उल-झनें पैदा हो गई हैं । उदाहरण के लिए 'निर्माण काल' की इन पंक्तियों को देखिए—

“लो आज भरोखों से उड़कर,

फिर देव दूत आते भीतर ।

सुरधनुओं के स्मित पंख खोल,

नव स्वप्न उतरते जन भूपर ।
 रँग - रँग के छाया जलदों सी
 आभा पंखड़ियां पड़तीं भर ।
 फिर मनो लहरियों पर तिरतीं,
 बिंबित सुर अप्सरियां निःस्वर ।”

पृ० ६१

यहां ‘भरोखे’, ‘देवदूत’, ‘सुरधनुओं के स्मित पंख’, ‘छाया जलद’, ‘आभा पंखड़ियां’, ‘मनो लहरियों’ और ‘सुर अप्सरियां निःस्वर’ सभी प्रतीक हैं और बीच में कोई भी पंक्ति ऐसी नहीं है जिसके द्वारा प्रत्येक के अर्थ का —चाहे हल्का सा ही—कोई संकेत मिले ।

जहां तक प्रतीकों की नवीनता का प्रश्न है यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी के किसी भी कवि ने नवीन प्रतीकों के प्रयोग में उतनी सफलता प्राप्त नहीं की है । पन्त द्वारा प्रयुक्त प्रायः सभी प्रतीक नवीन, रम्य और सशक्त हैं । उनके प्रयोगों में कहीं-कहीं दुरुहता आ गई है । इस दोष का प्रधान उत्तरदायित्व प्रतीकों पर नहीं उनके प्रयोगों पर है । जहां का प्रतीक-विधान सुस्पष्ट है, प्रतीक भी स्पष्ट हैं, जहां उनका विधान ही अस्पष्ट एवं सघन हो तो क्या निष्कर्ष निकाला जा सकता है ? ‘मेघ’, ‘पावक’, ‘तड़ित’, ‘रक्तोज्ज्वल’, ‘स्वप्न शिखर’, ‘छाया जलद’, ‘आभा पंखड़ियों’, ‘देवदूत’, ‘चन्द्र ज्वाल’, ‘सूक्ष्म वाष्प’, ‘अन्तर्नम’, ‘छायातप’ आदि अनेक रमणीय प्रतीक उत्तरा की प्रत्येक कविता में मिलेंगे । उत्तरा की भाषा की प्रतीकात्मकता अपने कवि की उर्वर एवं व्युत्पन्न प्रतिभा की पूर्ण परिचायक है । और इस क्षेत्र में पन्त हिन्दी के कवियों में सर्वश्रेष्ठ हैं । पन्त ने ऋतुओं की मनोहरता में स्वर्गाय चेतना की पावन प्रतीकात्मकता भरी है । इसका विशद विवेचन आगे किया जाएगा ।

प्रकृति-चित्रण

जब से मानव के बौद्धिक सजगता के क्षेत्र में प्रवेश किया तभी से प्रकृति उसके भावात्मक जीवन का महत्वपूर्ण अंग बन गई। आदि-मानव के लिए प्रकृति उपयोगी भी थी और नाशक भी। धीरे-धीरे मनुष्य की मानसिक प्रगति हुई और उसने अपने को प्रकृति के अनुकूल बनाने की बजाए प्रकृति को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया। मानव और प्रकृति का उपयोगात्मक सम्बन्ध तो उतना ही प्राचीन है जितना मानव का आरम्भ प्राचीन है। प्रकृति का भावात्मक रूप बहुत काल के पश्चात ही मनुष्य पर प्रत्यक्ष हुआ होगा। तब से लेकर आज तक प्रकृति मनुष्य के भावात्मक जीवन का एक अभिन्न अङ्ग बनी रही है। इधर वर्तमान युग में मानव का जीवन सघन और और संकुल हो गया है। प्रकृति का भावमय स्वरूप पीछे पड़ता जा रहा है और विज्ञान के क्षेत्र में उसका वैज्ञानिक विवेचन हो रहा है। सामान्य व्यक्ति के लिए अपने जीवन की आवश्यकताएँ इतनी जटिल हो गई हैं तथा उनकी पूर्ति इतनी श्रम-साध्य हो गई है कि उसे अपने जीवन से बाहर निकल कर अपने अन्य सम्बन्धियों तथा सामाजिक प्राणियों की ओर ही उन्मुख होने का अवसर नहीं मिलता तो फिर प्रकृति की तो बात ही क्या है। किन्तु एक बात बड़ी स्पष्ट है। साहित्य के क्षेत्र में आज भी प्रकृति को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है।

संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक विवेचन के द्वारा हम साहित्य में प्रकृति के नानाविध रूपों को देख सकते हैं। वाल्मीकि रामायण संस्कृत का आदि काव्य है। उसमें प्रकृति के सूक्ष्म, विस्तृत तथा प्राञ्जल वर्णन मिलते हैं। उस युग के जीवन में इसके कारण ढूँढ़ने का प्रयत्न किया जा सकता है। वाल्मीकि ऋषि थे और तपोवनों में रहते थे, प्रकृति की अनन्त

सुषमा में सदैव स्वच्छन्द विचरण करते। प्रकृति उनके जीवन का एक अभिन्न अङ्ग थी। विभिन्न ऋतुएँ उनके जीवन की साधना तथा कार्यक्रम को थोड़ा बहुत प्रभावित करती थीं। उनके काव्य में प्रकृति के ऐसे वर्णन मिलना स्वाभाविक ही है। बाद के संस्कृत के कवियों का जीवन बदल गया था। सामाजिक-संगठन भी नवीन रूप धारण कर रहा था। कालिदास का युग भारतीय इतिहास में सर्वतोमुखी उन्नति का युग था। कवि दरबार में रहा करता था। उसके काव्य के रूप तथा विषय के परिवर्तन आना स्वाभाविक ही था। कालिदास के उपरान्त अलंकार योजना में प्रकृति का प्रचुर प्रयोग होने लगा था। उसका आलम्बन रूप निर्बल एवं उपेक्षित होने लगा। हिन्दी काव्य का आरम्भ भी एक विशेष सामाजिक तथा राजनीतिक वातावरण की गोद में हुआ था। आदिकाल का कवि दरबारी था और उसका उद्देश्य होता था राजा की प्रशंसा करना और युद्ध के समय वीर भावों को जगाना। प्रकृति एक प्रकार से उपेक्षित सी ही रही। हाँ अलंकार के रूप में उसका परम्परा-भुक्त वर्णन अवश्य हुआ। भक्तिकाल के कवियों का प्रधान उद्देश्य था साहित्य में भक्तिरस भरकर जीवन को उस से तृप्त करना। ये कवि स्वच्छन्द थे किन्तु उनका दृढ़ विश्वास था कि भक्ति के बिना मनुष्य कुतरे और सुअर के समान ही है। साहित्य को भक्ति की सीमाओं ने बांध दिया। तुलसीदास ने जीवन का समग्र चित्र प्रस्तुत किया, किन्तु उस चित्र की प्राणशक्ति थी भक्ति। भक्ति काव्य में उपदेशों का होना उसी प्रकार अनिवार्य है जिस प्रकार मुकुट में रत्नों का। अलंकार रूप में प्रकृति का चित्रण परंपरित रूप में होता रहा। प्रकृति के द्वारा उपदेशों को व्यक्त करने का प्रयास भी होने लगा। कबीर और जायसी आदि रहस्यवादी कवियों में प्रकृति के चित्रों में रहस्य का रंग भरने का प्रयत्न किया। रीतिकाल के कवि दरबारी थे और उसका वातावरण शृङ्गारी। दरबार से बाहर निकलकर उन्मुक्त प्रकृति का गम्भीर निरीक्षण करना उनकी दिनचर्या के बाहर की बात थी। इसलिए प्रकृति का परम्परागत अलंकार रूप व्यवहार में आता रहा। शृङ्गारात्मक काव्य में प्रकृति के उद्दीपन रूप में चित्रण की बाढ़ आ गई। सेनापति ने प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण कर स्वतन्त्र मनोवृत्ति एवं स्वच्छन्द

प्रतिभा का परिचय दिया है। हिंदी काव्य के इस संक्षिप्त ऐतिहासिक विवेचन के द्वारा काव्य में प्रकृति के उपयोग के सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त का स्फुरण होता है। और वह यह कि प्रत्येक युग के कवि ने प्रकृति का परंपरित अलंकार रूप में प्रयोग तो किया ही है, किन्तु अपनी मनोवृत्ति या काव्य-विषय के अनुरूप ही उसकी प्रकृति विषयक दृष्टि भी बदलती रही। भक्ति और उपदेश के काल में प्रकृति द्वारा उपदेश देने की प्रवृत्ति पूर्णतः मुखर हुई। यह उस युग के काव्य विषय का प्रकृति पर प्रभाव था। रीतिकाल में विषयानुरूप प्रकृति के उद्दीपन रूप की प्रधानता हुई। प्रकृति के उपकरणों द्वारा काव्य के रूप को सजाना-संवारना तो शास्त्रीय अनिवार्यता थी। इसे प्रत्येक काव्य के गौरव का मुख्य आधार मान लिया गया था। किंतु साहित्यकार की मनोवृत्ति के अनुरूप ही काव्य विषय को प्रभावात्मक बनाने के लिए प्रकृति का विशिष्ट प्रयोग हुआ। इस सत्य से हमें काव्य के विषय और प्रकृति के घनिष्ठ सम्बन्ध का परिचय प्राप्त होता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह बात स्पष्ट होगई होगी कि साहित्य में प्रकृति का प्रयोग उसके दोनों पक्षों में होता है। वह कलापक्ष को भी उत्कृष्ट बनाती है और भावपक्ष को भी सशक्त रूप प्रदान करती है। प्रकृति काव्य के बहिरंग का भी अङ्ग है और अन्तरंग का भी। काव्य के बहिरंग में उसका रूप रीतिकाल तक और बहुत कुछ आगे भी एकसा ही चलता रहा किन्तु अन्तरंग में उसके विभिन्न प्रयोग हुए हैं और हो रहे हैं। यह एक महत्वपूर्ण सत्य है जिसे साहित्य के विद्यार्थी को कभी नहीं भूलना चाहिए। रीतिकाल में ही कलापक्ष में प्रकृति का प्रयोग इतना बढ़ा कि उसने काव्य के अन्तरंग को शृङ्खलाबद्ध कर उपेक्षित बना दिया। अन्तरंग में उसके एक ही रूप—उद्दीपन रूप—के निरंतर चलते रहने के कारण उसमें नवीनता का अभाव और विकर्षण की गंध आने लगी। उसके विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई जो आधुनिक युग के भारतेन्दु युग में नहीं द्विवेदी युग में हुई।

भारतेन्दु युग में काव्य के बहिरंग में प्रकृति का प्रचुर उपयोग होता रहा। अन्तरंग में काव्य को नवीन विषयों की ओर अभिमुख किया गया था।

किंतु जब काव्य में नवीन विषयों का आरंभिक समावेश किया जाता है तब उनके पूर्ण विकास के लिए साधना और समय की अपेक्षा होती है। जब अभ्यास के द्वारा वे विषय काव्य सिद्ध रूप प्राप्त कर लेते हैं, जब उनमें कवि के हृदय का रस खुल पड़ता है, तभी वे प्रकृति की सत्ता को प्रभावित करने में समर्थ होते हैं। भारतेन्दु युग में प्रकृति का उद्दीपन रूप में भी प्रचुर प्रयोग मिलता है। द्विवेदी काल में साहित्य में शृंगार की अभिव्यक्ति के विरुद्ध भीषण प्रतिक्रिया हुई। प्रकृति का उद्दीपन रूप शृंगारात्मक साहित्य से संबद्ध है। प्रणय प्रकृति को अपना सहायक मात्र बना लेता है। किंतु जब साहित्य में प्रणय की अभिव्यक्ति पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया तो स्वाभाविक ही था कि प्रकृति का उद्दीपन रूप भी समाप्त हो जाए। उधर नवीन विषयों को भी साहित्य की परिधि के भीतर घसीटा जा रहा था। घसीटना कहना ही उचित है क्योंकि उन विषयों के साथ कवियों के हृदय का तादात्म्य नहीं हुआ था। द्विवेदी युग की कविता का प्रधान स्वर राष्ट्रवादी एवं सुधारवादी था। सुधारवादी युग में प्रकृति का उपदेशात्मक रूप ही निखर सकता था। भक्ति और सुधार के युग के साहित्य में प्रकृति का उपदेशात्मक रूप ही लक्षित होता है। जिस प्रकार शृंगारात्मक साहित्य प्रकृति को गौण तथा उद्दीपन का साधन बना देता है उसी प्रकार सुधारवादी या उपदेशात्मक काव्य प्रकृति के रूपों तथा व्यापारों द्वारा उपदेशों की उद्भावना करता है। द्विवेदी युग में कवियों का ध्यान अतीत की ग्रन्थ रूढ़ियों को काटकर देश के इतिहास के विकास में सुन्दर विश्वासों की स्वर्णिम कणियों को सँजोने की ओर गया। कृष्ण को पुरुषोत्तम रूप में अङ्कित किया गया। उपदेशात्मक काव्य का लोकनायक पुरुषोत्तम ही हो सकता है जिसमें शील, शक्ति और सौन्दर्य का सामरस्य स्थापित होता है। पूर्व मध्य युग में भी उपदेशात्मक काव्य का लोकनायक था मर्यादा पुरुषोत्तम राम। इसी प्रकार द्विवेदी युग की सभी सुधारवादी आकांक्षाएँ प्रिय प्रवास के कृष्ण में मूर्तिमान हुई। फलस्वरूप प्रिय प्रवास में प्रकृति के उपदेशात्मक स्वरूप का विस्तृत चित्रण मिलता है। किन्तु द्विवेदी युग के पश्चात् काव्य के विषयों में और भी अनेकरूपता आई तथा कवियों ने उनके साथ भाव-सामरस्य स्थापित करने का भी सफल प्रयास किया। द्विवेदी

युग तक काव्य में प्रकृति चित्रण के महत्व की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। संस्कृत के काव्य शास्त्रों में भी साहित्य में प्रकृति के प्रयोग पर स्वतन्त्र विस्तृत दृष्टिपात नहीं हुआ था। आधुनिक युग में हिंदी साहित्य जगत का परिचय पश्चिम के साहित्य संसार से हुआ। वहाँ वर्डस्वर्थ ने जीवन और साहित्य में प्रकृति के महत्वपूर्ण स्थान को स्पष्ट किया और यह भी बताया कि आज के विज्ञान के युग में जीवन की असंख्य आवश्यकताओं की पूर्ति में उलभकर मनुष्य प्रकृति से अपने पुरातन साहचर्य-भाव को भूल बैठा है। हिंदी साहित्य में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने कवियों को प्रकृति के आलम्बन-रूप की ओर प्रवृत्त किया। इधर शुक्ल ने प्रकृति के आलम्बन-रूप को काव्य में ग्रहण करने की आवश्यकता पर बल दिया, उधर द्विवेदी कालीन साहित्य चेतना भी विकसित होती रही। उस युग की शृंगार-विरोधी भावनाओं के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई, काव्य-शैली का विकास हुआ, साहित्य में बाह्य स्थूल के स्थान पर आन्तरिक सूक्ष्म की अभिव्यक्ति होने लगी। कविता विषयी प्रधान हो गई। बाह्य-जीवन की सामाजिक समस्याओं की ओर से कवियों का ध्यान आँखें फेरने लगा। जब काव्य-चेतना केन्द्र प्रतिगामिनी न होकर केन्द्र अनुगामिनी हुई, जब साहित्य में अन्तर के प्रबल स्वरों के सामने बाह्य स्थूल छिपने लगे, तब प्रकृति का एक विशेष रूप में प्रयोग आरम्भ हुआ। कवि किस प्रकार अपने हृदय की सूक्ष्म संवेदनाओं को समाज तक पहुँचाए ? सूक्ष्म भावों को किस भाषा में अभिव्यक्त किया जा सकता है ? स्पष्ट है कि नवीन शैली का निर्माण, नवीन अभिव्यंजना की प्रणालियों की प्रतिष्ठा उस युग की प्रबल आकांक्षा थी। हिंदी साहित्य का इतिहास देखने से यह प्रतीत होगा कि भक्तिकालीन पदों में भी कवि के भावों की विवृति मिलती है। क्या छायावादी युगमें भक्तिकालीन क्रन्द योजना तथा भाषा के स्वरूप को नहीं अपनाया जा सकता था ? इसके उत्तर में यह तो स्पष्ट है कि जहाँ तक भाषा की संगीतात्मकता, भावों की कोमलता और पदों की गेयता आदि का प्रश्न है दोनों प्रकार की शैलियों में समानता ही है। फिर भी दोनों प्रकार के साहित्यों के रूपों में बहुत भिन्नता है। इसका कारण हमें इस सत्य में मिलता है कि भक्ति कालीन कवियों की भावनाएँ व्यक्तिगत होते हुए भी लोक-चेतना का बहिष्कार नहीं करती थीं

और फिर उनका एकमूर्त आलम्बन भी था। छायावादी और रहस्यवादी कवियों की भावनाएँ पूर्णतः व्यक्तिगत थीं और रहस्यवादी कवियों के भावों का आलम्बन भी अमूर्त एवं निगुण था। और फिर युग-जीवन तथा युग-चिंतन में भी बहुत परिवर्तन हो चुका था। स्वच्छन्दतावाद ने कवियों के हृदय में जड़ें जमा ली थीं। परम्परागत अलंकारों के विरुद्ध द्विवेदी युग में प्रतिक्रिया हो ही चुकी थी। उन्हें उसी रूप में ग्रहण करना युग-चिंतन धारा के विरुद्ध जाना था। इसलिये हमें साहित्य में एक अभिनव चमत्कार के दर्शन होते हैं जिसका स्वरूप छायावादी शैली की विशेषताओं में स्पष्ट किया गया है। इन विशेषताओं को प्राचीन अलंकारों से मिलाकर देखने की जो चेष्टा की गई है उसका यह अर्थ नहीं लेना चाहिए कि छायावादी कवियों ने भी उन्हीं अलंकारों को ध्यान में रखकर रचना की है। नहीं, ऐसी बात नहीं है। विभिन्न युगों के साहित्य की प्रवृत्तियों और स्वरूप की समानता का हमेशा ही यह अभिप्राय नहीं लेना चाहिए कि एक दूसरे की नकल है। तुलना के द्वारा तथा ऐतिहासिक विवेचन के द्वारा किसी भी विषय को भली-भाँति समझा जा सकता है। यही तुलनात्मक और ऐतिहासिक दृष्टिकोण का उद्देश्य होता है। जब तक दो विभिन्न साहित्य-धाराओं या चिंतन शाखाओं को सम्बन्धित करने वाले पुष्ट आधार न मिलें तब तक उनमें समानता होने पर भी उनका सम्बन्ध नहीं निश्चित किया जा सकता। दो धाराओं के संबंध होने पर उनमें समानता होगी किंतु उनमें समानता होने पर उनका पारस्परिक सम्बन्ध भी अवश्य होगा, यह कहना बिल्कुल गलत होगा।

अब यह देखना है कि उपर्युक्त विवेचन के आधार पर छायावादी कवियों का प्रकृति-विषयक दृष्टिकोण क्या हो सकता है? उन्होंने मन की सूक्ष्म भावनाओं को मूर्त रूप देने के लिए प्रकृति का प्रतीक रूप में उपयोग किया है। हिंदी साहित्य के इतिहास में प्रकृति के प्रतीकों के प्रचुर प्रयोग का यह प्रथम अवसर है। प्रकृति का प्रतीक रूप में उपयोग तो काव्य के बहिरंग की बात हुई। काव्य के अन्तरंग में प्रकृति को मानवी रूप में स्वीकार किया गया संध्या और रात्रि का वर्णन नायिकाओं के रूप में किया जाने लगा। छायावादी कवियों का प्रधान विषय रहा प्रेम-भावना का प्रकाशन। प्रेम में विरह

का ही स्वर अधिक प्रबल रहा । रीतिकाल में शृंगारात्मक काव्य में प्रकृति का उद्दीपन रूप ग्रहण किया गया । वर्तमान काल के प्रणय-गीतों में भी प्रकृति का उद्दीपन रूप में प्रयोग किया है । रीतिकाल में प्रकृति-वर्णन के सम्बन्ध में एक दूसरी प्रवृत्ति भी दिखाई देती है । वह है विभिन्न ऋतुओं का नायिका रूप में चित्रण । किंतु इन कवियों ने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के द्वारा ऋतुओं को नायिका का रूप दिया है । जैसे—

अरुन सरोरुह-कर-चरन, दृग खंजन मुख-चन्द ।

समैआइ सुन्दरि सरद काहि न करति अनन्द ॥

इस दोहे में बिहारी ने सांग रूपक द्वारा शरद ऋतु का नायिका के समान वर्णन किया है । आधुनिक युग में भी प्रेम के कवियों ने प्रकृति को मानवी रूप प्रदान किया है किंतु इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए उन्होंने रूपक आदि अलंकारों का प्रयोग नहीं किया वरन् सीधे सीधे प्रकृतिका मानवीकरण कर दिया है । किंतु इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों कालों में—रीतिकाल और आधुनिककाल में, प्रेम-भावना ने प्रकृति को उद्दीपन के रूप में तथा मानवी रूप में प्रस्तुत किया है । किंतु आधुनिक कवि एक बात में रीतिकालीन कवियों से भिन्न हैं जिसका कारण है आधुनिक कवियों को दरबार आदि के प्रत्येक बन्धन से स्वतंत्र होना । आज के कवियों में प्रकृति का जो सूक्ष्म निरीक्षण और सरस रूप पाया जाता है वह रीतिकालीन कवियों में बहुत ही कम है । आधुनिक कवियों ने प्रकृति के बीच रह कर उसे ध्यान पूर्वक देखा और समझा है—उसी प्रकार जिस प्रकार उन्होंने जीवन के बीच रह कर जीवन को भली-भाँति समझा है । इसके अतिरिक्त वातावरण आदि के निर्माण में भी प्रकृति का उपयोग किया है किन्तु यह भी प्रकृति के उद्दीपन का विशिष्ट रूप है ।

साहित्य जीवन और प्रकृति

उपर्युक्त ऐतिहासिक विवेचन के द्वारा साहित्य और प्रकृति के सम्बन्ध की घनिष्टता पर पूरा-पूरा प्रकाश पड़ता है । किंतु आज के युग में एक प्रश्न यह भी उठाया जाता है कि साहित्य में प्रकृति-चित्रण अनिवार्य नहीं है । जो व्यक्ति शाब्दिक अर्थों में उसे जीवन की व्याख्या या समाज का दर्पण

समझते हैं, वे साहित्य में प्रकृति-चित्रण का विरोध करेंगे। इससे भी अधिक तीखे विचारों वाले व्यक्ति जो साहित्य को, राजनीतिक आन्दोलन को सशक्त बनाने का साधन मात्र मानते हैं, साहित्य में प्रकृति को कोई भी स्थान देना गवारा न करेंगे। जहाँ तक काव्य के बहिरंग में प्रकृति के उपयोग का प्रश्न है वहाँ भी संकीर्ण मनोवृत्ति वाले आलोचक उसका विरोध करते हैं। साहित्य की भाषा जनता की भाषा ही होनी चाहिए। जनता की भाषा में अलंकारों और प्रतीकों का प्रयोग नहीं सा ही होता है। इसलिए साहित्य में भी अलंकारों और प्रतीकों के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं है। पन्त पर भी जब एक संकीर्ण विचारधारा के प्रभाव का रंग गहरा था तो उसने भी कहा था—

“तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ?”

किन्तु पन्त तो अपनी इस घोषणा और निश्चय से इसी कविता के आगे वाली पंक्तियों में डिग गया। किन्तु ऐसा एक वर्ग है अवश्य जो इस निश्चय का अन्तराशः पालन करना तथा कराना चाहता है। अब काव्य के अन्तरंग में प्रकृति के स्थान के विषय में मतभेद को देखिए। काव्य-विषय में प्रकृति का उद्दीपन रूप, उपदेश रूप, आलम्बन रूप आदि आते हैं जिन्हें हम संक्षेप में दो प्रकारों के भीतर ले सकते हैं। (क) काव्य-विषय में प्रकृति को उपयोग दो प्रकार से हो सकता है। प्रथम, मानव भावों के अनुरूप, वर्णन, द्वितीय स्वतन्त्र रूप। प्रथम रूप में कवि अपने हृदय के भावों को प्रकृति में देखता-दिखाता है और उससे उपदेश आदि की भी व्यंजना करता है। इस रूप को प्रायः सभी वर्ग के आलोचक स्वीकार कर लेंगे। जहाँ शृङ्गारात्मक काव्य की रचना पर प्रतिबन्ध है वहाँ प्रकृति का उद्दीपन रूप भी स्वीकार नहीं होगा। इसलिए इन पंक्तियों के प्रकृति सम्बन्धी दृष्टिकोण को समझने के लिए उनकी मूल विचारधारा के विश्लेषण की आवश्यकता होगी जिसके लिए यहाँ अनुकूल अवसर नहीं है। और जहाँ प्रकृति के चित्रण द्वारा साहित्यकार विशेष उपदेशों या दृष्टिकोणों को प्रदर्शित करता है, वहाँ यदि उन उपदेशों या दृष्टिकोणों से आलोचक की शत्रुता नहीं है तो वह उस वर्णन को

उचित घोषित करेंगे। उदाहरण के लिए प्रचारक-साहित्यकार यदि प्रकृति का इस रूप में उपयोग करके अपने प्रचार को सशक्त और व्यापक बना दें तो यह उनके गुट के आलोचकों के द्वारा उनकी सबसे बड़ी सफलता समझी जाएगी। सुधारक-साहित्यकार प्रकृति द्वारा उपदेशों की उद्भावना में ही अपनी सफलता समझते हैं। हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक विवेचन में यह स्पष्ट किया गया है कि हिन्दी के कवियों ने प्रकृति का अपने भावों या विचारों की छाया में प्रयोग किया है और इस प्रयोग ने उनकी रचनाओं का उत्कर्ष भी प्रदान किया है। इधर आकर कुछ विद्वानों द्वारा यह बात उठाई गई है कि साहित्य में प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण संभव ही नहीं है। मार्क्सवादी चिन्तक और साहित्यकार तो प्रकृति के आलम्बन रूप को अस्वीकार तो करेंगे ही। उनके अतिरिक्त अन्य विद्वानों ने भी प्रकृति के स्वतन्त्र-चित्रण का विरोध किया है। इतना ही नहीं उन्होंने यह भी दिखाने की चेष्टा की है कि आदि काव्य रामायण आदि के जिन स्थलों में प्रकृति का आलम्बन रूप में चित्रण माना जाता है, वह सब वर्णन भावों के परिपाक में सहायक मात्र ही है। वास्तव में वह वर्णन स्वतन्त्र नहीं कहा जाता। वह मानव-सापेक्ष है। स्पष्टतः इस विषय में दो विरोधी मन हैं। प्रथम, जिसके अनुसार-काव्य में प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण मानव मन को उदात्त बनाने के लिए अनिवार्य है। द्वितीय जिसके अनुसार साहित्य में प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण कोई अर्थ नहीं रखता क्योंकि वह संभव ही नहीं है। साहित्य सम्बन्धी इस समस्या को सुलझाने के लिए हमें जीवन के क्षेत्र में आना पड़ेगा। यह देखने का प्रयत्न किया जाएगा कि मनुष्य के जीवन में प्रकृति का कोई स्थान है या नहीं। और यदि जीवन और प्रकृति का सम्बन्ध सिद्ध हो जाता है तो साहित्य और प्रकृति का संबंध भी स्वयं-सिद्ध ही है। क्योंकि जीवन के क्षेत्र में जो सत्य है वह साहित्य के क्षेत्र में भी सत्य होना ही चाहिए। इसी सत्य के आधार पर पन्त की दूसरी अलोचना-पुस्तक में साहित्य सम्बन्धी कई समस्याओं को सुलझाया गया है।

जीवन और प्रकृति के सम्बन्ध के दो रूप हैं। प्रथम उपयोगी सम्बन्ध और द्वितीय भावात्मक-सम्बन्ध। उपयोगी सम्बन्ध से अभिप्राय है मानव

जीवन की सुविधाओं के लिए प्रकृति के उपकरणों का प्रयोग । मनुष्य अपनी दैनिक आवश्यकताओं, की पूर्ति करने के लिए प्रकृति पर पूर्णतः निर्भर रहता है । इस विषय में अधिक कहने की आवश्यकता है ! प्रकृति अपने सूक्ष्म रूप में मनुष्य जीवन के उपयोग में आती है जो विज्ञान के क्षेत्र की बात है । प्रकृति के वैज्ञानिक अध्ययन के द्वारा उसे मनुष्य के लिए अधिकाधिक उपयोगी बनाने के प्रयत्न किया जाता है । किन्तु साहित्य और प्रकृति के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए हमें जीवन और प्रकृति के भावात्मक सम्बन्ध को समझना होगा । विभिन्न ऋतु के विभिन्न दृश्य मानव हृदय में विभिन्न प्रकार की भावनाएँ जाग्रत करते हैं । शहरों के व्यस्त जीवन से ऊबकर जब मनुष्य किसी ऐसे स्थान पर पहुँचता है जहाँ प्रकृति की सहज शोभा का संसार है, उसे एक नवीन उत्साह और स्फूर्ति का अनुभव होता है । हँसते हुए फूलों को देखकर एक अनिवर्चनीय आनन्द एवं रहस्य की भावना अंकुरित होती है । उषाकालीन सौन्दर्य को देखकर हृदय पुनीत भावों से भर जाता है । उमड़ते हुए सागर के किनारे बैठकर हृदय अपनी व्यापकता और जीवन की चंचलता की अनुभूति करता है । खूनी तूफान की छाया हृदय पर भय और आतंक की छाप छोड़ जाती है । नदियों की बाढ़ भी मन को भय और निराशा के भँवर का शिकार बना देती है । यदि जीवन में यह सत्य है तो साहित्य में भी यह सत्य होना चाहिए क्योंकि जीवन और साहित्य दोनों ही चेतना की सृष्टियाँ हैं । इससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि जिस प्रकार जीवन में प्रकृति का स्वतंत्र स्थान है इसी प्रकार साहित्य में भी प्रकृति का आलम्बन रूप वर्णित हो सकता है ।

अब प्रश्न यह होता है कि ऐसे काव्य की क्या उपयोगिता है जिसमें प्रकृति को आलम्बन के रूप में चित्रित किया गया हो तथा ऐसी रचना में कौन सा रस होगा ? आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह कहना उचित है कि ऐसी रचनाएँ मानव जीवन को बाँधने वाले प्रकृति के रागात्मक सम्बन्धों की रक्षा करती हैं । मनुष्य अपने स्वार्थ में धिरकर अपनी उन भावनाओं के खजाने को खो बैठता है जो उसके हृदय की सहज संपत्ति है । प्रकृति सम्बन्धी रचनाओं के अध्ययन के द्वारा हम प्रकृति के अधिक निकट आएँगे उसके

स्वरूप से अधिक आनन्द प्राप्त करेंगे। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि कोई व्यक्ति नित्य प्रातःकाल तथा संध्याकाल में घूमने, के लिया जाया करता है। एक दिन वह ऐसी कविताएँ पढ़ता है जिनमें उषाकालीन तथा संध्याकालीन प्रकृति का आलम्बन रूप में वर्णन है। जब दूसरे रोज वह घूमने जाएगा तो स्वपठित इन रचनाओं के प्रकाश में वह अपने आप को प्रकृति के सौन्दर्य के अधिक समीप पाएगा। वह उन रचनाओं से प्राप्त अभिनव दृष्टि कोण के आधार पर प्रकृति का निरीक्षण करेगा और नवीन सौन्दर्यानुभूति का सुख प्राप्त करेगा। ऐसा होना स्वाभाविक ही है। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति में वह प्रतिभा नहीं होती जिसके द्वारा वह प्रकृति ही नहीं जीवन के स्वरूप को भली भाँति हृदयंगम कर सके। कवि अपनी सहज प्रतिभा द्वारा प्रकृति के गहन और रहस्यमय रूपों को सामान्य पाठक के सामने प्रस्तुत कर देता है जो पाठक को एक नया आलोक प्रदान करता है। प्रकृति ही नहीं जीवन के संबन्ध में भी यही सत्य साहित्य को रमणीय बनाता है। जिस प्रकार साहित्यकार प्रकृति का अच्छा और सच्चा पारखी होता है उसी प्रकार वह जीवन का भी सच्चा अन्वेषक और प्रदर्शक होता है। साहित्यकार जीवन के अनेक रूपों को यथार्थ रूप में सामाजिकों के सामने रखता है जिनसे वे पहले परिचित नहीं होते और होते भी हैं तो साधारण रूप से। जिस प्रकार साहित्यकार जीवन के नए रूपों से सामाजिकों को अवगत कराता है उसी प्रकार वह प्रकृति के नवीन रहस्यों को सामाजिक के समक्ष प्रस्तुत करता है। प्रकृति सम्बन्धी काव्य का एक उपयोग तो यह है कि वह सामाजिक को प्रकृति के नवीन सौन्दर्य से नित्य ही परिचित कराता रहता है। मानव जीवन अपने में और अपने आसपास के वातावरण में सौन्दर्य की कामना किया करता है। मानव स्वभाव से ही सौन्दर्य का प्यासा अतः उपासक। वह प्रत्येक वस्तु में रमणीयता देखना चाहता है। वस्तुओं के खरीदने में उनकी सुन्दरता उनके मूल्य और महत्त्व को बहुत हद तक नियंत्रित करती है। वस्तुएँ केवल उपयोगी ही नहीं सुन्दर भी हो। मानव उसके लिए सदैव प्रयत्नशील रहता है। और हमने देखा कि प्रकृति सम्बन्धी काव्य हमें प्रकृति में नवीन सौन्दर्य देखने को प्रेरित करता है। उसके द्वारा मनुष्य की सौन्दर्य-पिपासा शान्त होती है। निस्संदेह

यह एक बड़े महत्व की बात है ।

अब प्रकृति काव्य के सम्बन्ध में दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न सामने आते हैं । यदि रसात्मक वाक्य ही काव्य है तो प्रकृति सम्बन्धी काव्य को कहाँ रखा जाएगा । क्या प्रकृति काव्य में रस का उद्रेक होता है ? यदि नहीं तो वह काव्य कैसे कहा जा सकता है । ऊपर यह प्रदर्शित किया गया है कि प्रकृति हमारे भावों का आलम्बन हो सकती है । किन्तु प्रमुखतः प्रकृति का सौंदर्य मनुष्य की सौंदर्य पिपासा को तृप्त करती है । अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि सौंदर्य पिपासा की तृप्ति और रसानुभूति में क्या अन्तर है ? रसानुभूति में सत्व गुण का प्रकाश होता है । सौन्दर्य की अनुभूति में भी तमस् और रजस् दबे रहते हैं । रस स्थायी भाव का गंभीरतम रूप है । रसानुभूति में जो भाव होता है वह मनुष्य और मनुष्य के बीच की अवस्था है । किन्तु प्रकृति विषयक कविता में सामाजिक का सम्बन्ध प्रकृति से होता है । वहाँ मनुष्य का मनुष्य से सम्बन्ध नहीं है वरन् प्रकृति के विविध रूपों से है । क्या इन दोनों प्रकार के भाव-सम्बन्धों में भेद है ? आरम्भिक अवस्था में तो यह दोनों प्रकार के भाव-सम्बन्ध एक दूसरे से भिन्न प्रकार के होते हैं किन्तु आगे चलकर जैसे जैसे हृदय की सौन्दर्य-वृत्त शक्ति पकड़ती जाती है और उसकी गंभीर तृप्ति होने लगती है, दोनों का भेद लीन होने लगता है । गंभीरतम रूप में दोनों ही भाव-सम्बन्ध मनुष्य को लोक सामान्य भावभूमि पर प्रतिष्ठित करते हैं । इतना ही पर्याप्त नहीं है । साधारणीकरण की अवस्था पर भी विचार करने की अपेक्षा है । क्या प्रकृति काव्य में भी साधारणीकरण की अवस्था प्राप्त होती है ? यह तो सत्य है कि सभी सामाजिकों के लिए प्रकृति को आलम्बन रूप में चित्रित करने वाली कविता एक सी ही भावानुभूति को जन्म देती है । सभी व्यक्तियों के हृदय में वह रचना एक ही अनुभूति को जन्म देती है । यही बात जीवन-सम्बन्धी कविताओं में भी पाई जाती है । इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रकृति सम्बन्धी रचनाओं और जीवन सम्बन्धी रचनाओं में विशेष समानता पाई जाती है । कुछ विद्वान अवश्य जीवन सम्बन्धी कविताओं को ही उत्कृष्ट बतायेंगे । मनुष्य के लिए उसका जीवन जितना महत्व रखता है, उतनी कोई भी अन्य वस्तु महत्वपूर्ण नहीं है । बाँकी जितनी भी वस्तुएँ

हैं सब जीवन से सापेक्ष होकर ही आती है। ठीक है। मनुष्य के लिए मनुष्य जीवन ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। किन्तु इस तर्क के सही होते हुए भी इसके आधार पर यह निष्कर्ष लगाना कि प्रकृति सम्बन्धी कविताएँ जीवन सम्बन्धी कविताओं से हीन है, गलत है। यह समझना ही भ्रम है कि प्रकृति सम्बन्धी रचनाएँ जीवन सम्बन्धी रचनाओं से पूर्णतः भिन्न हैं और मनुष्य को जीवन से विमुख करती हैं। वास्तव में प्रकृति सम्बन्धी रचनाएँ भी जीवन की ही रचनाएँ हैं। यह कैसे कह सकते हैं कि प्रकृति सम्बन्धी सभी रचनाएँ जीवन की ही रचनाएँ हैं? इसके उत्तर के लिए कवि तथा सामाजिक दोनों की ही मानसिक अवस्था का अध्ययन करना पड़ेगा। कोई भी कवि क्यों प्रकृति का आलम्बन गत वर्णन करता है? इसका एकमात्र उत्तर यह है कि प्रकृति के उस स्वरूप ने कवि के जीवन को प्रभावित किया इसीलिए तो वह उस ओर आकर्षित हुआ। यहाँ हम देख सकते हैं कि कवि के जीवन का प्रकृति के जीवन से महत्वपूर्ण सम्बन्ध है। उसका ज्वलन्त उदाहरण है सुमित्रा नन्दन पन्त जिसका जन्म प्रकृति के मनोहर वातावरण के बीच हुआ तथा जिसे प्रकृति ने काव्य-रचना में महान प्रेरणा दी। इस बात को कवि ने भी स्वीकार किया है और आलोचक भी इसे स्वीकार करते हैं। पन्त ने प्रकृति को अपने से भिन्न सत्ता रखने वाली एक नारी के रूप में देखा और स्वयं भी उससे तादात्म्य का अनुभव किया। वह प्रकृति में खो जाना जाता है। इसी में उसे दैवी आनन्द की प्राप्ति होती है। जीवन के उदास और निराशापूर्ण क्षणों में प्रकृति को मनोहर दृश्य जीवन की आँखों के सामने आनन्द की रंगीन चाँदनी बिखेर देता है। उदासी में डूबे हुए कवि के हृदय के सामने पहले देखे हुए डैफोडिल्स नाचने लगते हैं और फिर उसका हृदय भी उसी आनन्द नृत्य में सम्मिलित हो जाता है। यह है प्रकृति और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध। उधर सामाजिक भी प्रकृति के रम्य दृश्यों को देखकर जीवन में विविध भावनाओं को अनुभूति करता है। और जब वह कवि के हृदय के रस से सक्त प्रकृति का सजीव वर्णन पढ़ता है तो उसे प्रकृति के रहस्यमय रूपों के सौन्दर्य ज्ञान से परम सुख होता है।

जिस प्रकार जीवन में स्वर्णिम क्षण भी आते हैं और अन्धेरे पल भी

आते हैं, कभी उल्लास की चांदनी होती है और कभी विषाद की ज्वाला, उसी प्रकार प्रकृति में भी कहीं सौन्दर्य है और कहीं विभीषिका। साहित्यकार जीवन के कुरूप पक्ष की उपेक्षा नहीं करता। वह उसका भी चित्रण करता है केवल कुरूपता दिखाने के लिये नहीं वरन् कुरूपता को इस रूप में दिखाने के लिए कि मानव हृदय उसके प्रति विक्षोभ से भर जाए और उसको नाश के लिए उस पर टूट पड़े। किंतु प्रकृति के उग्र या भयङ्कर रूपों के प्रति ऐसे भावों को अंकुरित करना कवि का उद्देश्य नहीं होता। क्या कटीली भाड़ियां और रेगिस्तानों को नाश करने के लिये कभी भी कवि जनता को नहीं उभाड़ता। जंगलों की विभीषिका के प्रति कविता हृदय में उदासीनता या अपेक्षा का संचार नहीं करती। प्रकृति के विभिन्न रूपों को दिखाना कवि का उद्देश्य है। किंतु प्रकृति का यह प्रत्यक्षीकरण इस प्रकार का होता है कि वह सामाजिक के हृदय में अनुकूल भावों को जन्म दे। कवि प्रकृति के सभी रूपों का वर्णन अवश्य करता है किंतु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्रकृति के सभी रूप समान हैं, फूलों और कांटों में कोई भेद नहीं है। फूलों के हार पहने जाते हैं किंतु कवि यह नहीं कहता कि मनुष्य कांटों के भी हार बनाकर गले में पहने। यह बात निस्सन्देह सत्य है कि कवियों की दृष्टि काव्य के रमणीय पक्ष की ओर अधिक आकर्षित रही है : और यही स्वामाविक भी था। कवि और सामाजिक दोनों का ही हृदय जिस उमंग के साथ फूलों और हरे-भरे उद्यानों की ओर लपकेगा, उसी उमंग से वह कांटों और रेगिस्तानों की ओर नहीं लपकेगा। कवियों ने कांटों और रेगिस्तानों को मनुष्य के भावों से सापेक्ष करके अधिक दिखाया है। प्रकृति का भाव सापेक्ष वर्णन उसके स्वतंत्र वर्णन की आत्मा को विशेष रूप से प्रभावित और नियन्त्रित करता है। जब हम कांटों और रेगिस्तान को जीवन की बाधाओं और विभीषिकाओं का प्रतीक या उपमान माने तो इस से यही सिद्ध होता है कि प्रकृति के इन रूपों में तथा जीवन की इन अवस्थाओं में समानता है। जहाँ तक इस समानता का सम्बन्ध है, यह तो निर्विवाद रूप से मान्य तथा स्वीकृत है। किंतु क्या यह ठीक है कि जिस प्रकार हम जीवन की बाधाओं और विभीषिकाओं के विरुद्ध होते हैं क्योंकि वे हमारे जीवन के विकास की विरोधी शक्तियाँ हैं,

उसी प्रकार हम प्रकृति के इन रूपों के भी विरुद्ध हो जायें ? इस प्रश्न का उत्तर यही सत्य दे देता है कि हम साहित्य में दोनों रूपों को स्वीकार करते आए हैं और करते जायेंगे । इधर आजकल सरकार भी रेगिस्तानों को दूर कर वहां के जीवन को सुखी बनाने की निता में है । यह तो हुई प्रकृति को उपयोगिता की दृष्टि से देखने की बात । किन्तु ऐसे भी चिन्तक और कवि हुए हैं जिन्होंने प्रकृति के इन रूपों की भी प्रशंसा की है और उनके भी सौंदर्य के दर्शन किए हैं । जब भी हम अपने बचपन के खेलने के मैदान को देखते हैं, तो चाहे वह कितना भी गन्दा क्यों न हो हमारे मन में उसके प्रति ममत्व जाग ही उठेगा । इस सत्य से भी इन्कार नहीं किया जा सकता । प्रकृति का सौंदर्य जीवन और प्रकृति के साहचर्य द्वारा भी विशेष रूप से नियन्त्रित होता है । किन्तु जीवन की विपमताओं से चाहे कितना भी साथ रहा हो, वह सुन्दर नहीं दिखाई देगी । जीवन भर दग्धता से पीड़ित व्यक्ति भी दग्धता को सुन्दर कभी नहीं कहेगा ।

जो लोग प्रकृति को काव्य के आलम्बन रूप में स्वीकार नहीं करना चाहते हैं, उन्हें सौन्दर्य और ज्ञान का सम्बन्ध भी समझ लेना चाहिए । कवि प्रकृति चित्रण द्वारा अपनी रचना में सौन्दर्य का सृजन करता है । सौन्दर्यानुभूति सुखद होती है । वस्तु की सुन्दरता हृदय में हर्ष की लहरों के रूप में प्रतिबिम्बित होती है । किन्तु सौन्दर्य और आनन्द का यह सम्बन्ध अनिवार्य नहीं है । मनुष्य की मानसिक परिस्थिति के कारण सुन्दर भी दुःखप्रद और पीड़क हो सकता है । किन्तु यह भाव-सापेक्ष प्रकृति वर्णन की बात हुई । स्वतन्त्र प्रकृति का सौन्दर्य हृदय का आनन्द बन जाता है । जिस प्रकार सौन्दर्य और आनन्द में घनिष्ठ सम्बन्ध है उसी प्रकार आनन्द और ज्ञान में भी गहरा सम्बन्ध है । उपनिषदों में ब्रह्म को आनन्द स्वरूप और ज्ञान स्वरूप माना गया है—विज्ञानं आनन्दं ब्रह्म । प्रकृति के द्वारा जो आनन्द प्राप्त होता है उसका कारण है उसके रहस्य-रूपों का ज्ञान, उसके नवीन रूपों का दर्शन । प्रकृति के सौन्दर्य के ज्ञान से जीवन के सौन्दर्य ज्ञान का भी सहज सम्बन्ध है ।

काव्य का आनन्द और प्रकृति का आनन्द

यह एक बड़ा विवादास्पद विषय है। कुछ विद्वान विशेषकार पश्चिम के आलोचक विस्तृत समीक्षा के आधार पर इस निर्णय की स्थापना करते हैं कि काव्य के आनन्द और प्रकृति के आनन्द में कोई भेद नहीं है। किंतु भारतीय प्राचीन काव्य-शास्त्र पर विश्वास रखने वाले काव्य के आनन्द को अलौकिक आनन्द की दशा मानते हैं और उस सुख को ब्रह्मानन्द सहोदर तक मानते हैं। दोनों दृष्टिकोण में आकाश-पाताल का भेद है। हमें देखना यह है कि वास्तविकता क्या है ?

सबसे पहले तो यह समझना होगा कि काव्य के आनन्द तथा प्रकृति के आनन्द से क्या अभिप्राय है ? काव्य के आनन्द को रस कहते हैं, यह स्पष्ट है। किंतु प्रकृति के आनन्द से दो प्रकार के अनुभवों का द्योतन होता है। यदि प्रकृति शब्द का संकुचित अर्थ लिया जाए तो प्रकृति के आनन्द से अभिप्राय होगा प्रकृति के दृश्यों तथा रूपों के दर्शन से उद्भूत अनुभूति। यदि प्रकृति शब्द का व्यापक अर्थ लें जिसमें उसका स्वरूप त्रिगुणात्मक है तो हमें प्रत्येक सांसारिक सरस अनुभव को प्रकृति का आनन्द मानना पड़ेगा। प्रस्तुत प्रश्न के सही स्पष्टीकरण के लिए यह आवश्यक है कि हम प्रकृति के आनन्द के भीतर प्रकृति के मनोहर दृश्यों के प्रभाव को भी लें तथा सांसारिक सरस अनुभूतियों को भी।

पहला प्रश्न यह उठता है कि काव्यानन्द या रस का स्वरूप क्या है ? यहाँ रस-सिद्धान्त की संक्षिप्त विवेचना आवश्यक है। भरतमुनि का यह सूत्र तो बहुत प्रसिद्ध ही है—

विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः ।

इसके विवेचन में हमें जाने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ मुख्यतः यह स्पष्ट किया जायगा कि सामाजिक के हृदय की रसात्मक अवस्था का मनो-वैज्ञानिक विश्लेषण क्या कहता है। रस को हम भाव का गंभीरतम रूप कह सकते हैं। शान्त-चित्त का प्रथम विकार भाव कहलाता है। सांसारिक जीवन में जो भी भाव उदित होते हैं, उन्हें ही साहित्य में रस रूप में प्रस्तुत किया

जाता है। प्रश्न यह उठता है कि माता यशोदा के हृदय में कृष्ण का वात्सल्य भाव पाठक को किस प्रकार प्रभावित या रस मग्न करता है। हम जीवन में सहानुभूति के सत्य का अनुभव करते हैं। दूसरे के दुख को देखकर हमें भी दुख होता है और दूसरे को सुखी देखकर हमें भी सन्तोष का अनुभव होता है। किन्तु हमें यह भी देखते हैं कि सहानुभूति जन्य यह दुख या सुख का भाव स्थायी या गंभीर नहीं होता। हम यह भी देखते हैं कि कुछ क्षुद्र व्यक्तियों को अन्य मनुष्यों के भावों से विपरीत भावों का अनुभव होता है। वे दूसरों को दुखी देखकर प्रसन्न तथा दूसरे की सुखी देखकर व्यथित होते हैं। तो लोक में हमें अन्य व्यक्तियों के भावों की दो प्रतिकूल प्रतिक्रियाँ मिलती हैं। कहीं तो वह एक का भाव वही भाव उत्पन्न करता है और कहीं एक का भाव विपरीत भाव के रूप में प्रकट होता है। किंतु सामान्य व्यक्ति को यदि एक मनुष्य के भावों की सम अनुभूति होती है तो उसमें वह तीव्रता नहीं होती जो स्वयं उस मनुष्य को होती है। भावों के इस आदान प्रदान की एक तीसरी अवस्था और भी होती है। जब सुख या दुख के भावों का आश्रय क्षुद्र व्यक्ति होता है, तो भी सामान्य व्यक्ति के हृदय में विषम भावों की अनुभूति ही होती है। साहित्य में हम भावों के इस संचरण को गंभीर तीव्र एवं संपूर्ण रूप में देखते हैं। जीवन तथा काव्य दोनों ही क्षेत्रों में भावों के संचरण का यह सत्य लक्षित होता है किन्तु जीवन के क्षेत्र में वह प्रायः निर्बल और कभी-कभी विषम तथा साहित्य के क्षेत्र में सशक्त होता है। ऊपर जीवन के क्षेत्रों में भावों के संचरण की तीन अवस्थाएँ दिखाई गई हैं। अब इन तीनों अवस्थाओं को साहित्य के क्षेत्र में देखा जायेगा।

१—जीवन में यदि भाव का आश्रय दुष्ट व्यक्ति है तो सामान्य व्यक्ति की अनुभूति विषम होती है—उस व्यक्ति की अनुभूति के प्रतिकूल होती हैं। साहित्य के क्षेत्र में भी हमें यह अवस्था इसी रूप में सत्य दिखाई देता है। उदाहरण के लिए समाज में यदि कोई रावण के समान पाप कर्म करता है तो सामान्य व्यक्ति उसके सुख में दुखी तथा दुख में सुखी होता है। चोरों तथा हत्यारों के पकड़े जाने तथा मारे जाने पर जनता को सन्तोष होता है। उसी प्रकार साहित्य में भी रावण के भावों से विषम भावों की अनुभूति सामा

जिक को होती है। यदि रावण हँसता है तो सामाजिक उससे और भी अधिक घृणा करता है यदि रावण मारा जाता है तो सामाजिक प्रसन्न होता है—सामाजिक ही नहीं देवता भी पुष्प वर्षा करते हैं। तो भावों के संचरण की एक अवस्था में तो यह सिद्ध हुआ है कि यहां काव्य तथा लोक की अनुभूति एकसी होती है। भावों के संचरण से यह अभिप्राय नहीं होना चाहिए कि सचमुच ही एक के भाव दूसरे के हृदय में प्रवेश करते हैं। ऐसा समझना तो भयंकर भूल होगी। भावों के संचरण से अभिप्राय है भावों की प्रतिक्रिया से।

२—अब भावों की प्रतिक्रिया की दूसरी अवस्था के विषय में बिचार करेंगे। सामान्य व्यक्ति के भावों की प्रतिक्रिया सम होती है। यदि एक के मन में हर्ष है तो दूसरा भी प्रसन्न होता है और यदि एक दुखी है तो दूसरा भी दुखी होता है। किंतु प्रतिक्रिया के रूप में उदित यह अनुभूति प्रायः बहुत गहरी नहीं होती। साहित्य में भी भावों की प्रतिक्रिया तो सम ही होती है किंतु वह गम्भीर होती है। यह तो निर्विवाद रूप से स्वीकार है कि साहित्य और जीवन दोनों ही क्षेत्रों में भावों की सम प्रतिक्रिया होती है। जिस प्रकार हम जीवन में पड़ोसी को दुखी देखकर स्वयं भी शोकातुर हो जाते हैं उसी प्रकार हम राम को भी दुखी देखकर स्वयं दुखी होते हैं। किन्तु जीवन के क्षेत्र में हमारी दुखानुभूति तीव्र नहीं होती और हो सकता है कि वह दिखावा भर ही हो। किंतु साहित्य में ऐसा नहीं है। अब एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठता है। जीवन के क्षेत्र में भावों की प्रतिक्रिया मन्द क्यों होती है और साहित्य के क्षेत्र में वह सघन क्यों होती है? इस प्रश्न के उत्तर में यह भी स्पष्ट हो जाएगा कि काव्यानुभूति और लोकानुभूति में भेद का कारण क्या है। जिसके हृदय में भावों की अनुभूति होती है वह आश्रय कहलाता है। जब हमारे पड़ोसी का भाई मृत्यु शय्या पर पड़ा है तो वह गहरे दुख में डूबा होता है। उधर जब लक्ष्मण को शक्ति लगी हुई है और वह मरण-शय्या पर पड़े हुए हैं तो राम भी दुःख सागर में डूबे हुए हैं। यहाँ जीवन के क्षेत्र में पड़ोसी और साहित्य के क्षेत्र में राम दोनों ही आश्रय हैं। सामाजिक के हृदय में दोनों ही अवस्थाओं में दुख की अनुभूति होती है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि

आश्रय—पड़ोसी और राम—के हृदय की इस दर्दभरी दशा में अन्तर नहीं है किंतु वही सामाजिक जो पड़ोसी के प्रति दिखावे की सहानुभूति दिखाता है राम का विलाप पढ़कर रोने लगता है। यहाँ एक महत्वपूर्ण सत्य सिद्ध हुआ और वह यह कि जीवन और साहित्य के क्षेत्र में सामाजिक की हृदय-चेतना भिन्न हो जाती है। जीवन के क्षेत्र में उसका हृदय उतना उर्बर और द्रवणशील नहीं है जितना वह साहित्य के क्षेत्र में आकर हो जाता है। वही व्यक्ति जो पड़ोसी की भाई की मृत्यु पर लोकाचार के लिए दुख का प्रदर्शन करता है, राम के विलाप पर गहरी चोट खाकर सिसक उठता है। साहित्य मनुष्य के हृदय को अधिक भावुक बना देता है। उसका वह सम्बेदनशील रूप जो संसार में दब जाता है और लोकाचार बनकर रह जाता है साहित्य संसार में पूर्ण शक्ति के साथ जाग उठता है। यही काव्यानुभूति तथा लोकानुभूति के भेद का कारण है। जीवन के क्षेत्र में मनुष्य का सम्बन्ध प्रकृति के तमोगुण तथा रजोगुण से रहता है जो अज्ञान तथा दुख के प्रतीक हैं। साहित्य के क्षेत्र में तमस् और रजस् दब जाते हैं तथा सामाजिक के हृदय की सहज-सात्विक अवस्था उभर आती है, उसका हृदय अधिक संवेदनशील और भावुक हो उठता है। इसी कारण सामाजिक की दोनों प्रकार की अनुभूतियों में अन्तर हो जाता है। इस प्रकार भाव की प्रतिक्रिया के दूसरे रूप में काव्यानुभूति और रसानुभूति की गम्भीरता में भेद हो जाता है। इस गम्भीरता के भेद की उपेक्षा नहीं की जा सकती क्योंकि इसका सम्बन्ध पाठक के हृदय की अवस्था से है। लोकानुभूति तथा काव्यानुभूति में वही भेद है जो रजोगुण या तमोगुण और सतोगुण के बीच है।

किंतु इस सम्बन्ध में एक प्रश्न किया जा सकता है। क्या जीवन में भी हम दूसरे के दुखों या सुखों का उस तीव्रता के साथ अनुभव नहीं कर सकते जिस गम्भीरता के साथ हम उसकी अनुभूति काव्य-संसार में करते हैं ? तो उपर्युक्त विवेचन की छाया में इसका उत्तर स्पष्ट है। यदि कोई व्यक्ति जीवन के क्षेत्र में भी सात्विक तथा भावुक है तो निस्सन्देह उस की जीवन और साहित्य की भावानुभूति में कोई भेद नहीं है। विश्वनाथ ने 'सत्वोद्रेकात्'—

वाले श्लोक में साहित्य के आनन्द को सात्विक अवस्था का आनन्द माना है। जिस मनुष्य का जीवन ही सात्विक है और जिसने निरन्तर साधना द्वारा तमोगुण और रजोगुण को जीत लिया है, वह जीवन में ही रसात्मक अनुभूति करने लगेगा। यह बिल्कुल स्पष्ट बात है। योग शास्त्र में वर्णित मधुमती भूमिका की पर-प्रत्यक्ष की अवस्था में स्थित साधक की रसलीन सामाजिक से तुलना की जाती है। मधुमती भूमिका में स्थित योगी को अपने पराए का भेद-ज्ञान नहीं रहता। उसमें सदैव सत्वगुण की ही प्रधानता रहती है। इसलिए वह प्रत्येक वस्तु का रसात्मक अनुभव ही करता है। उसके लिए सर्वत्र सामरस्य है। किन्तु रसात्मक अनुभूति और मधुमति-भूमिका को बिल्कुल समान मान लेना दुराग्रहमात्र होगा। जहाँ तक रस-सिद्धान्त की स्पष्टता का प्रश्न उठता है यह तुलना अवश्य उपादेय है किन्तु दोनों अवस्थाओं में महान भेद है साधना और स्थायित्व का। यहाँ केवल इतना ही माना जा सकता है कि साहित्य की सी गम्भीर अनुभूति जीवन में भी सात्विक वृत्ति वाले सामाजिकों के लिए प्राप्य है। किन्तु क्या इससे काव्यानुभूति तथा लोकानुभूति की समानता सिद्ध होती है? यहाँ काव्यानुभूति के अर्थ के सम्बन्ध में तो कोई विवाद नहीं है, हाँ लोकानुभूति का अर्थ समझना होगा। प्रश्न यह है कि सात्विक वृत्ति वाले सामाजिकों की अनुभूति को लोकानुभूति माना जाएगा अथवा सामान्य सामाजिकों की अनुभूति को? स्पष्टतः सात्विक वृत्ति वाले मनुष्य की अनुभूति को लोकानुभूति नहीं माना जा सकता क्योंकि ऐसे मनुष्य समाज में बहुत कम होते हैं। समाज तो सामान्य सामाजिकों से भरा हुआ है। इसलिए उनकी अनुभूति ही लोकानुभूति कहलाएगी। यदि सामान्य सामाजिक द्वारा किया हुआ भावों का सम अनुभव लोकानुभूति है तो स्पष्ट ही काव्यानुभूति तथा लोकानुभूति में भेद मानना पड़ेगा। वस्तुतः लोकानुभूति से तात्पर्य भी यही है। किन्तु यह भी सत्य है कि साहित्य-संसार की सी अनुभूति समाज में भी सत्वप्रधान हृदय को प्राप्य है। साहित्यकार आलम्बन का सृजन उन उपकरणों से करता है कि वह सामाजिक के हृदय को तन्मयकर दे। तन्मयता की अवस्था में स्व-पर ज्ञान के अभाव की अवस्था में जो भावों की सम अनुभूति होगी वह रस रूप ही होगी। चाहे वह जीवन

में हो चाहे समाज में ।

इसके साथ ही साथ इस विषय में एक प्रश्न और उठता है । प्रथम क्या राम के विलाप से हृदय में जो गम्भीर अनुभूति अभिव्यक्त होती है, उसमें और मृत्यु शय्या पर पड़े हुए अपने भाई के लिए रोते हुए व्यक्ति के हृदय की अनुभूति एक सी होगी ? क्या साहित्य में दुःखमय भावों की अनुभूति दुःखमय और सुखमय भावों की अनुभूति सुखमय होती है या इससे विपरीत होती है ? अपने वास्तविक दुःख में तथा राम के विलाप को सुनकर उदित हुई करुणा में भेद है । यहाँ सामाजिक तो वही है किन्तु आलम्बन भिन्न हैं । जीवन में व्यक्ति का अपना भाई है और साहित्य में राम का भाई लक्ष्मण । वस्तुतः काव्यानुभूति के समय सामाजिक हृदय की तन्मयता में इस बात को भूल जाता है । किन्तु लोक जीवन में उसे यह ज्ञान है कि उसके अपने भाई की मृत्यु हुई है और उसका यह दुःख बड़ा भयंकर होता है एवं उपर्युक्त काव्यानुभूति से भिन्न होता है । काव्यानुभूति में भयंकरता के अभाव का कारण है तन्मयता की अवस्था जिसमें अपने पराए का ज्ञान तिरोहित हो जाता है । यहाँ हमें काव्यानुभूति तथा लोकानुभूति में भेद दिखाई देता है । इसी प्रकार सुखात्मक भाव की अनुभूति के विषय में भी कह सकते हैं । यहाँ भी लोकानुभूति में जो अपने पराए का ज्ञान रहता है वह काव्यानुभूति में नहीं रहता । फलस्वरूप जो उद्विग्नता लोकानुभूति में है वह काव्यानुभूति में नहीं है । दुःखात्मक तथा सुखात्मक दोनों ही प्रकार के भावों की अनुभूति में काव्य तथा जीवन के क्षेत्र में जो भेद है, उसका मूल कारण यही है कि जीवन के क्षेत्र में भावानुभूति में उद्विग्नता भी मिली रहती है जो काव्यानुभूति में नहीं है । इसीलिए काव्यानुभूति में अधिक शान्ति और पावनता होती है । सात्विक वृत्ति वाले व्यक्ति के हृदय में उद्विग्नता का उदय नहीं होगा इसलिए उसके लिए यह भेद नहीं रह जाता है । काव्यानन्द में उद्विग्नता के अभाव का यह सत्य अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि इसके आधार पर रस की एक नवीन व्याख्या प्रस्तुत की जाएगी ।

पहले यह कहा जा चुका है कि रसानुभूति की अवस्था तथा मधुमती भूमिका में सादृश्य है । किन्तु उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निर्विवाद

रूप से कहा जा सकता है कि जहाँ तक वैज्ञानिक विवेचन का प्रश्न है उसकी समानता गीता की समत्व भावना से अधिक है। गीता में कहा है कि जो व्यक्ति दुःख में उद्विग्न नहीं होता, जिसे सुख की स्पृहा नहीं है, जो राग, भय और क्रोध से रहित है वह स्थितधी कहलाता है। रसानुभूति की अवस्था में भी उद्विग्नता तथा स्पृहा का अभाव रहता है। किन्तु एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि रसानुभूति तथा समत्व अनुभूति की अवस्था की समानता को बहुत दूर तक नहीं खींचा जा सकता।

३—अब भावात्मक प्रतिक्रिया के तीसरे रूप का विवेचन किया जाएगा। जीवन में यह भी देखा जाता है कि दूसरे व्यक्तियों के सुख को देखकर कुछ क्षुद्र मनोवृत्ति के व्यक्ति दुःखी होते हैं और दूसरों के दुःख को देखकर वे प्रसन्न होते हैं। किन्तु साहित्य में भाव की यह प्रतिक्रिया नहीं दिखाई देती। साहित्य की सफलता तथा शक्ति ही इसी में है कि वह सामान्य व्यक्तियों के ही नहीं क्षुद्र व्यक्तियों के हृदय को भी सहज-शान्त में अवस्थित करता है। चाहे कोई व्यक्ति जीवन में कितना ही क्षुद्र क्यों न हो साहित्य के क्षेत्र में उसकी मानसिक अवस्था परिष्कृत हो ही जाती है। तुलसीदास ने 'विनय-पत्रिका' के एक पद में यह आशा प्रकट की है कि कभी वह भगवान की कृपा से अवश्य ऐसी अवस्था को प्राप्त करेगा जिसमें वह दूसरों के दुःख को देखकर प्रसन्न नहीं होगा तथा दूसरों के सुख को देखकर दुःखी नहीं होगा। भक्ति के क्षेत्र में भी ऐसी अवस्था की प्राप्ति संभव है। साहित्य का अध्ययन हृदय को इसी मनोभूमि तक पहुँचा देता है। अतः यह स्पष्ट हुआ कि भावात्मक प्रतिक्रिया की तीसरे रूप में काव्यानुभूति तथा लोकानुभूति में भेद है।

यह तो हुआ मनुष्य और मनुष्य के बीच के भावात्मक सम्बन्ध का विवेचन। अब मनुष्य और प्रकृति के भावात्मक सम्बन्ध पर दृष्टिपात किया जाएगा। सामान्य व्यक्ति प्रकृति के प्रत्यक्ष दर्शन द्वारा जिस भाव की अनुभूति करता है, उसी भाव की अनुभूति वह उस प्रकृति के काव्य के अध्ययन में करता है। किन्तु यहाँ भी भाव की तीव्रता का भेद होता ही है। प्रकृति के काव्य को पढ़ने से हृदय में जो अनुभूति उत्पन्न होगी, वह सामान्य व्यक्ति की लोकानुभूति की अपेक्षा कहीं अधिक गंभीर और उदात्त होगी। उपर्युक्त

विवेचन के द्वारा ही यहाँ भी इस भेद को समझा जा सकता है। यदि जीवन में ही वह व्यक्ति सात्विक हो तो उसके लिए लोकानुभूति और काव्यानुभूति में कोई भेद नहीं रहेगा।

लोकानुभूति तथा काव्यानुभूति के इस अन्तर का एक और कारण भी है। ज्ञान और आनन्द का घनिष्ठ सम्बन्ध है। कवि अपनी प्रतिभा के द्वारा जीवन तथा प्रकृति के रहस्य रूपों को विशद अभिव्यक्ति देता है। सामान्य सामाजिक में इतनी प्रतिभा नहीं होती कि वह स्वयं जीवन और प्रकृति के विभिन्न रूपों तथा व्यापारों का स्वतन्त्र रूप से गहन निरीक्षण या अध्ययन कर सके। जब साहित्यकार अपनी प्रतिभा के बल पर जीवन तथा प्रकृति को सूक्ष्म तथा नवीन रूपों में अभिव्यक्त करता है, तब उसे देखकर सामाजिक चमत्कृत हो उठता है। यह नवीन ज्ञान उसके हृदय में आनन्द का उद्रेक करता है। अभिनव ज्ञान ही सामाजिक के हृदय में आनन्दानुभूति के रूप में प्रकट होता है। संभव है कि कुछ लोग ज्ञान तथा आनन्द के इस घनिष्ठ सम्बन्ध को स्वीकार न करें। किंतु यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो दोनों का घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट हो जाएगा। प्रसिद्ध दार्शनिक स्पिनोजा ने लिखा है कि ईश्वर अपने आप में ही आनन्द की अनुभूति करता है। यह स्वगत आनन्दानुभूति सैद्धान्तिक पूर्णता की आनन्दानुभूति है। जब सामाजिक चिर-परिचित जीवन के रहस्यों के मधुर दर्शन करता है तो उसका हृदय आलोक से भर जाता है।

पन्त और प्रकृति

हिन्दी साहित्य के ऐतिहासिक विवेचन के द्वारा साहित्य और प्रकृति के घनिष्ठ सम्बन्ध का परिचय दिया जा चुका है। प्रकृति का प्रयोग काव्य के बहिरंग में भी होता है और अन्तरंग में भी। इसके साथ ही साथ यह भी सिद्ध किया गया है कि साहित्य के विषय के अनुसार ही प्रकृति का अन्तरंग रूप परिवर्तित हो जाता है। उपदेशात्मक साहित्य में प्रकृति द्वारा उपदेश देने की प्रवृत्ति पाई जाती है। रहस्यवादी कवियों ने प्रकृति के द्वारा रहस्य-कल्पनाओं की मधुर उद्भावनाएँ की हैं। शृंगारी कवियों ने प्रकृति के द्वारा प्रेम और भावों के उद्दीपन के चित्र प्रस्तुत किए हैं। अब पन्त के व्यक्तित्व के

विकास के साथ-साथ प्रकृति के प्रति उसके दृष्टिकोणों का सामंजस्य करने का प्रयत्न किया जाएगा ।

यह कहा जा चुका है कि पन्त के कवि-जीवन का आरम्भ प्रकृति की रम्य गोदी में हुआ है । उसने प्रकृति के विविध रूपों तथा व्यापारों का सूक्ष्म निरीक्षण किया । यह तो रही प्रकृति के जीवन पर प्रभाव की बात । जीवन का भी प्रकृति पर प्रभाव पड़ता है । जब पन्त ने वीणा की रचनाओं का सृजन किया उस समय उसकी मानसिक अवस्था पुष्ट नहीं थी । उसमें शैशवावस्था की सरलता तथा सौम्यता थी । इसके अतिरिक्त माँ के प्यार से वंचित हो जाने के कारण प्रकृति की छाया में उसे वैसी ही शान्ति मिली जैसी बच्चे को माँ की गोद में मिलती है । फलतः पन्त ने प्रकृति में माँ की छाया देखी तथा उसे दिव्य रूप में देखा । कवि के मन की सरलता तथा सुकुमारता उन रचनाओं में बिल्कुल स्पष्ट है जहाँ उन्होंने अपने को अभावमय बालिका के रूप में चित्रित किया है । उसे प्रकृति स्वतंत्र सत्ता रखने वाली नारी के रूप में दिखाई देती है । कवि ने प्रकृति के साथ तादात्म्य-भावना को भी प्रकट किया । वीणा की कविताओं में हमें प्रकृति का यही रूप दिखाई देता है ।

वीणा के पश्चात् ग्रन्थि, पल्लव तथा गुंजन में कवि के जीवन में जो सबसे महत्वपूर्ण तथा सशक्त घटना हुई वह थी उसके प्रेम की ओर उसकी असफलता की । प्रेम ने प्रकृति को प्रेममय कर दिया और प्रेम की असफलता के कारण कवि को सारी प्रकृति में निराशा दिखाई देने लगी । ग्रन्थि और पल्लव में काव्य के बहिरंग में प्रकृति का प्रचुर प्रयोग हुआ है । यह प्रयोग अलंकारों के रूप में, लाक्षणिक प्रयोगों के रूप में और प्रतीकों के रूप में यहाँ से वहाँ तक बिखरा हुआ है । जब कवि प्रेम करता है तो उसे सारी प्रकृति प्रेममय दिखाई देती है । वियोग में उसे संध्या जतुगृह के समान जलती हुई दिखाई देती है । इस काल में कवि पर प्रेम की असफलता का ही आघात नहीं हुआ वरन संसार की नश्वरता की भी करुण तीव्र अनुभूति हुई । प्रकृति के सभी रूप और व्यापार उसे क्षणिक तथा नश्वर दिखाई देते हैं । नीचे के उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाएगा कि किस प्रकार कवि के भावों ने प्रकृति के स्वरूप को प्रभावित किया है ।

जब कवि प्रथम मिलन में प्रिया से प्रणय-भिन्ना माँगता है और उसके उत्तर की प्रतीक्षा करता है तो उसे अपने हृदय की जिज्ञासा प्रकृति में प्रति-बिम्बित दिखाई देती है—

“इन्दु की छवि में, तिमिर के गर्भ में,
अनिल की ध्वनि में, सलिल की वीचि में
एक उत्सुकता विचरती थी, सरल-
सुमन की स्मिति में, लता के अधर में ।”

—ग्रन्थि से

इसी प्रकार जब कवि के हृदय में यह विश्वास बद्धमूल हो जाता है कि जीवन नश्वर है और कहीं भी स्थायित्व नहीं है तो वह अपने इस विश्वास को प्रकृति में इस रूप में देखता है—

“आज तो सौरभ का मधु मास,
शिशिर में भरता सूती साँस !
वही मधुश्रुत की गुञ्जित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती—जीवन है भार ।
आज पावस नद के उद्गार
काल के बनते चिह्न कराल ;
प्रात का सोने का संसार
जला देती संध्या की ज्वाल ।”

—अनित्य जग

गुंजन में कवि ने संसार की अनित्यता की इस चोट को दार्शनिक चिंतन के द्वारा सहने का प्रयास किया । फलस्वरूप ‘एक तारा’, ‘नौका विहार’ में उसने प्रकृति में भी अपने दार्शनिक सत्यों को देखा है । इन सबका विस्तृत विवेचन दूसरी पुस्तक में हो चुका है ।

यह तो हुआ प्रकृति-चित्रण का एक रूप । पन्त को प्रकृति से अनन्य प्रेम है । उसने प्रकृति का आलम्बनगत वर्णन भी किया है । किंतु वह अपने हृदय

को पूर्णतः दबा नहीं पाया है। 'पर्वत प्रदेश में पावस', 'आँसू' आदि रचनाओं में उसने प्रकृति के विस्तृत विशद चित्र खींचे हैं। किंतु बीच-बीच में उसका वियोगी हृदय भी सिसक उठता है और तब उसे प्रकृति में भी विरह और मिलन के चित्र दिखाई देने लगते हैं। आँसू कविता की इन पंक्तियों को यदि स्वतंत्र रूप से देखा जाए तो यहाँ प्रकृति का आलम्बन रूप ही दिखाई देगा—

“द्विरद - दन्तों से उठ सुन्दर,
 सुखद कर - सीकर से बढ़कर,
 भूति से शोभित विखर-विखर,
 कैल फिर कटि के-से परिकर,
 बदल यों विविध वेश जलधर,
 बनाते थे गिरि को गजवर।”

किंतु इसी कविता में कवि आगे लिखता है—

खेंच ऐंचीली भ्रू - सुरचाप—
 शैल की सुधि यों बारम्बार—
 हिला हरियाली का मुदुकूल
 झूला झरनों का झलमल हार,
 जलद-पट से दिखला मुख-चन्द्र,
 पलक पल पल चपला के भार,
 भग्न उर पर भूजर सा हाय !
 सुमुखि, धर देती है साकार !”

यहाँ कवि को प्रकृति के रूपों तथा व्यापारों में प्रिया का रूप तथा उसकी क्रीड़ाएँ दिखाई देती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक ही कविता में हमें प्रकृति के दो रूप दिखाई देते हैं। कहीं तो कवि की दृष्टि प्रकृति के यथा तथ्य कलात्मक वर्णन में लीन दिखाई देती है और कहीं प्रकृति उसके भावों के रंग में रंगी दिखाई देती है। एक ही कविता के अन्तरंग में प्रकृति को दो-दो रूपों में चित्रित करना यह विशेषता उत्तरा की कविताओं में भी पाई जाती है। यहाँ एक बात और भी स्पष्ट होती है। कवि को वर्षा तथा

बसंत की ऋतुओं ने ही सबसे अधिक आकृष्ट किया है। पतझर आदि का वर्णन तो कवि ने प्रायः प्रतीक रूप में या नाश की निराशा दिखाने के लिए ही किया है।

गुञ्जन के उपरान्त कवि ने मानव-सामज की विषमताओं का अध्ययन कर उसे दूर करने के उपायों को खोज निकालने का प्रयत्न किया। वह कवि जो समाज से बहुत दूर प्रकृति की सुषमा में और व्यक्तिगत प्रेम की असफलता में खोया हुआ था, अब सामाजिक चेतना का रास्ता पाने लगा। जब वह जीवन के विषम जटिल संघर्षों के बीच आ उलझा तब वह प्रकृति से दूर हो गया—वैसे ही जैसे सामान्य व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन में इतना बंध जाता है कि वह प्रकृति की मनोहरता की और भाँकने का अवसर भी नहीं पाता। युग पथ तथा युगवाणी में प्रायः प्रकृति का रंग धुला सा दिखाई होता है। काव्य के बहिरंग में भी प्रकृति के प्रयोगों का हास हुआ। भाषा सूक्ष्म तथा अलंकारहीन हो गई। ग्राम्या में कवि ने गाँव की प्रकृति का वर्णन किया है जिसमें कोई विशेष कवित्व नहीं हैं। संक्षेप में प्रकृति-चित्रण की दृष्टि से यह युग पन्त साहित्य में हास का युग ही माना जाएगा। इसके पश्चात कवि के दृष्टिकोण में फिर परिवर्तन हुआ। उसने नवीन सांस्कृतिक चेतना के सत्य का अनुभव किया। फलस्वरूप प्रकृति के प्रति भी उसका दृष्टिकोण बदला। उत्तरा में आकार तो उसने प्रकृति से प्रतीक लिए और प्रकृति की ऋतुओं को भी प्रतीकवत् ग्रहण किया। प्रकृति चित्रण पर प्रेम का रंग भी दिखाई देता है, और कहीं-कहीं कुछ पंक्तियों में उसका स्वतंत्र चित्रण भी लक्षित होता है।

उत्तरा में प्रकृति

उत्तरा के अन्तरंग तथा बहिरंग दोनों में ही प्रकृति का प्रयोग लक्षित होता है। काव्य के बहिरंग में प्रकृति का प्रयोग अलंकार रूप में भी हुआ है तथा प्रतीक रूप में भी। काव्य के अन्तरंग में प्रकृति का उद्दीपन रूप भी दिखाई देता है तथा कुछ पंक्तियों में स्वतंत्र रूप भी। ऊपर पल्लव के उदाहरण में यह दिखाया गया है कि किस प्रकार एक ही कविता में पन्त ने

प्रकृति को स्वतंत्र और उद्दीपन रूप में चित्रित किया है। उत्तरा में भी ऐसा लक्षित होता है। इसके साथ ही साथ यहाँ एक अन्य रूप भी दिखाई देता है। वह है प्रकृति-चित्रण में नवीन चेतना के प्रफुल्ल आगमन तथा विशद विस्तार के चित्र। एक ही कविता में प्रकृति के ये तीनों रूप लक्षित होते हैं। अब उदाहरणों के द्वारा उत्तरा के प्रकृति-चित्रण के वैविध्य को स्पष्ट करने का प्रयास किया जाएगा।

काव्य के बहिरंग में कवि ने प्रकृति का प्रतीक तथा अलंकार रूप में उपयोग किया है। किन्तु पन्त ने प्रतीक-विधान तथा अलंकार-योजना के लिए प्रकृति के नियत रूपों तथा व्यापारों को ही ग्रहण किया है। मेघों के रूपों तथा ऊषा या अरुणोदय के सजीव सरस वर्णनों की प्रधानता है। युग-छाया कविता में कवि ने मेघों की घटा के द्वारा संक्रान्ति काल की विषम निराशा का प्रभावपूर्ण वर्णन किया है—

दारुण मेघ घटा घहराई,

युग संध्या गहराई !

आज घरा प्रांगण पर भीषण

भूल रही परछाई !

—पृ० ५

जहाँ कवि ने मेघों के अन्धकार के द्वारा वर्तमान की निराशा को व्यक्त किया है वहाँ संध्या के द्वारा भी संक्रान्तिकाल को व्यंजित किया है। संध्या का समय भी संक्रान्ति का समय है। दिवस का अवसान होता है और रात्रि को आरम्भ होता है। दिवस में संध्या-संक्रान्ति के दो रूप हैं। जब दिन समाप्त होता है, सूर्य अस्त होता है तो अन्धकार छा जाता है जो निराशा का प्रतीक है। जब रात्रि का अन्धकार गलने लगता है तथा ऊषा का आगमन होता है तब सुनहला प्रकाश विकीर्ण होने लगता है जो आशा और उल्लास का प्रतीक है। उसी प्रकार युग परिवर्तन में भी संक्रान्ति के दो पहलू हैं। वर्तमान युग की समाप्ति और नवीन युग के आगमन के बीच की अवस्था अवसाद और मूढ़ता का अवसर है। उधर नवीन युग के आगमन का क्षण दर्प के प्रकाश का समय है। दिवस और युग की संक्रान्ति के अवसर

के ये दो रूप हैं और पन्त ने इन दोनों रूपों का प्रयोग किया है। जब उसे वर्तमान की अशान्ति और क्षोभ का वर्णन करना होता है तो वह दिन की समाप्ति का वर्णन करता है जैसा कि ऊपर उद्धृत पंक्तियों में किया गया है। यहाँ युग पर भयंकर क्षोभ और व्याकुलता के मेघ मंडरा रहे हैं और संध्या का सघन निराश वातावरण छाया हुआ है) 'जगतघन' कविता की निम्नलिखित पंक्तियों में भी कवि ने मेघ का ऐसा ही वर्णन किया है—

जब जब घिरें जगत घन मुझ पर
करूँ तुम्हारा चिंतन,
ढँक जावे जब अन्तर्नभ मैं
करूँ प्रतीक्षा गोपन ! —पृ २१

जब पन्त को नवीन चेतना के आगमन का जाज्वल्यमान वर्णन करना होता तो वह ऊषा के आगमन का वर्णन करता है। 'जीवन उत्सव' कविता में उसने ऊषा के आगमन द्वारा नवीन सांस्कृतिक-चेतना के प्रकाश का वितरण चित्रित किया है—

अरुणोदय नव, लोकोदय नव !
मंगल ध्वनि हर्षित, जन मंदिर
गूँजरहा अंबर में मधुरव !
स्वर्णोदय नव, सर्वोदय नव !

× × ×

स्वान ज्वाल धरणी का अँचल
अंधकार उर रहा आज जल,
स्वर्ण द्रवित हो रही चेतना,
विजय दीप्त अब विश्व पराभव ।” पृ० ४७

कहीं-कहीं पन्त ने दिवस तथा युग की संक्रान्ति के दोनों रूपों का एक साथ वर्णन किया है। जैसे 'स्वर्ग विभा' कविता की इन पंक्तियों में—

‘ज्यों उषा प्रज्वलित सागर में
झूबता अस्तमित शशि मंडल

चेतना क्षितिज पर आभा स्मिप्त

भूगोल उठ रहा स्वर्णोज्ज्वल ।”

पृ० ६७

उषाकाल में सर्वत्र लालिमा का सागर लहरा उठा है । उसमें धीरे-धीरे चन्द्रमा डूब रहा है । और आकाश में दमकता हुआ सूर्य मण्डल उदित हो रहा है । उधर नवीन चेतना के प्रकाश में प्राचीन सभ्यता विलीन हो रही है । शशि मंडल वर्तमान चेतना का प्रतीक है जो नवीन संस्कृति में लीन हो रही है । साथ ही नवीन सांस्कृतिक चेतना से प्रज्वलित संसार का रूप निखर रहा है ।

यह तो हुआ प्रकृति के विशिष्ट रूपों तथा व्यापारों द्वारा नवीन सभ्यता के आगमन का वर्णन । यहाँ प्रकृति के रूपों का प्रयोग प्रतीक या अलंकार के रूप में हुआ है । इस प्रकार के प्रकृति चित्रण के साथ ही साथ पन्त ने प्रकृति की समग्र ऋतुओं का भी प्रतीकवत् चित्रण किया है । ऐसा करने के लिए पन्त ने शरद ऋतु तथा बसन्त ऋतु का ही विस्तृत वर्णन किया है । 'पल्लव' के प्रकृति-चित्रण की विशेषताओं का स्पष्टीकरण करते हुए यह कहा जा चुका है कि वहाँ कवि ने पावस ऋतु का सूक्ष्म विशद वर्णन किया है । वहाँ कवि का विषय था प्रणय और वियोग की व्यथा । किन्तु उत्तरा में कवि का प्रधान वर्ण्य विषय है नवीन सांस्कृतिक चेतना । यहाँ कवि ने वर्षा ऋतु को नहीं शरद तथा बसन्त को प्रधानता दी है । यहाँ वर्षा का वैसा वर्णन नहीं मिलता (यहाँ कवि ने शरद तथा बसन्त को क्यों स्वीकार किया है और वर्षा ऋतु को क्यों प्राधान्य नहीं दिया इसका कारण स्पष्ट है । ऊपर यह कहा जा चुका है कि मेघों के वर्णन के द्वारा कवि ने संक्रान्तिकाल का वर्णन किया है । किन्तु यह गौण है । ऊर्ध्वचेतना के उल्लास ऐश्वर्य का वर्णन करने के लिए शरद तथा बसन्त ही अधिक उपयुक्त हैं । शरद ऋतु में वर्षाकाल के मेघों की हलचल तथा गर्जन-तर्जन समाप्त हो जाती है । आकाश स्वच्छ हो जाता है । मानव जीवन में भी अधिक शक्ति तथा स्फूर्ति का संचरण होता है । वह अधिक बेग के साथ प्रत्येक कार्य करता है । नवीन सभ्यता में भी मनुष्य के भीतर अभिनव स्फूर्ति तथा अदम्य साहस का उद्रेक होगा । इसलिए दोनों में समानता है । बसन्त को ऋतुराज कहा गया है । वनस्पतियों के

जीवन में नूतन सुषमा के दर्शन होते हैं। नवीन फूलों की शोभा से 'दिशाएँ' चमक दमक उठती हैं। उससे नवीन चेतना के सौंदर्य की समानता है। वस्तुतः कवि ने ऊर्ध्व-चेतना के सौंदर्य का वर्णन करने के लिए वसंत का और उसकी शुभ्रता तथा शक्ति को मुखर करने के लिए शरद ऋतु का वर्णन किया है। बहुत पहले युगान्त में भी कवि ने पतझर तथा बसंत का प्रतीकात्मक वर्णन किया है। पतझर में वह कहता है—

“द्रुत झरो जगत के जीर्ण पत्र।

हे सस्त-ध्वस्त ! हे शुष्क-शीर्ण।

हिम - ताप - पीत मधुवात - भीत,

तुम वीत-राग, जड़, पुराचीन !!

×

×

×

मञ्जरित विश्व में यौवन के

जग कर जग का पिक, मतवाली

निज अमर प्रणय स्वर मदिरा से

भरदे फिर नव युग की प्याली।’

यहां पतझर के द्वारा प्राचीन जड़ अन्ध-विश्वासों के नाश का वर्णन किया गया है तथा बसंत के द्वारा युग के नवीन स्वर्णिम रूप को प्रकट किया गया है। उत्तरा में आकर प्रकृति चित्रण का यह रूप निर्दिष्ट और स्पष्ट हो गया है। ‘शारदागम’ (पृ० १००) ‘शरद चेतना’ (पृ० १०१) ‘चन्द्रमुखी’ (पृ० १०३) ‘शरद श्री’ (पृ० १०५) में शरद ऋतु का अनेक रूप वर्णन किया गया है जिसमें प्रधानता नवीन संस्कृति के स्वर्णों की है। ‘फूल-ज्वाल’ (पृ० १०६) और ‘बसंत’ (पृ० ११३) में बसंत के चित्र में नवीन चेतना का रंग गहरा हो उठा है।

‘शरद चेतना’ में कवि कहता—

‘तुम फिर स्वप्नों का पट बुनती

ले जीवन से छाया प्रकाश,

फिर गीत स्वर्णों का जाल गूँथ

उलझाती सुख दुख अश्रुहास !

+ + +

तुम खोल देह मन के बंधन
चेतना बन गई फिर उज्ज्वल,
उमगा प्राणों का मेघ, लिपट'
निखरी तुम,—अब बादल ओभल ।”

द० १०१-१०२

यहाँ आरम्भिक छन्दों में कवि का ध्यान शरद ऋतु के स्वरूप के प्रत्यक्षीकरण की ओर अधिक रहता है किंतु कविता के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते वह प्रकृति को स्पष्टतः नवीन चेतना का प्रतीक कह देता है। प्रायः ऐसा प्रकृति वर्णन की प्रत्येक कविता में हुआ है। एक और भी विशेषता ध्यान देने योग्य है। ऋतुओं की इन्हीं कविताओं में बीच-बीच में कवि उनको उद्दीपन रूप में भी अङ्कित करता है। अनेक स्थलों पर प्रकृति चित्रण में उसके उद्दीपन रूप तथा नवीन चेतना को प्रकट करने वाले रूप में अभेद दिखाई देता है। वहाँ दोनों अर्थ किये जाने चाहिए—उद्दीपन पक्ष का अर्थ भी और संस्कृति पक्ष का अर्थ भी। उदाहरण के लिए उपर्युक्त उद्धृत पंक्तियों में प्रथम चार पंक्तियाँ देखिए। शरद ऋतु नवीन स्वप्नों को जगाती है, नवीन गीतों को भङ्कृत करती है और जीवन में नई सुख दुख की भावनाओं को जन्म देती है। यहां नवीन सपने प्रेम के भी हैं और संस्कृति के भी। शरद ऋतु प्रणयी के हृदय में नूतन भावनाएँ भर देती है। इसी प्रकार अन्यत्र भी ऐसे ही दोनों अर्थों को समझ लेना चाहिए। ‘बसंत’ कविता में भी कवि ने इसी प्रकार का वर्णन किया है—

(‘फूलों में मृदु अंग लपेट कर
फिरणों के सौ रंग समेट कर,
गुंजन कूजन में जग को भर
फिर बसंत की आत्मा आई।
हरित शुभ्र स्वर में भर मर्मर
अरुण पीत लौ में कैप-कैप कर।
× × ×

देख चुका मन कितने पतझर,
 ग्रीष्म शरद, हिम पावस सुन्दर,
 ऋतुओं की ऋतु यह कुसुमाकर,
 × × ×
 सब युग, सब ऋतु थीं आयोचन,
 तुम आश्रोगी, वे थे साधन,
 तुम्हें भूल कटते ही कब क्षण,
 फिर बसन्त की आत्मा आई,
 देव, हुआ फिर नवल युगागम,
 स्वर्ग धरा का सफल समागम ।”

पृ० १४३, १४४

आरंभिक पंक्तियों में स्पष्टतः बसन्त का वर्णन तटस्थ रूप में किया गया है। कवि की दृष्टि बसन्त के रूप-सौन्दर्य में ही उलझी हुई है। किंतु अन्त में वह सभी ऋतुओं का—पतझर ग्रीष्म आदि को—प्रतीक रूप में ग्रहण करता है और बसन्त में उसे धरती तथा स्वर्ग मिलन करते दिखाई देते हैं। कला की दृष्टि से यह उत्तम काव्य कहा जाएगा क्योंकि यहाँ व्यंजना की प्रधानता है। यहाँ बसन्त के प्रत्यक्षीकरण के साथ-साथ नवीन सांस्कृतिक चेतना का रूप भी स्पष्ट होता है। उत्तरा में ऐसी ध्वनिपूर्ण रचनाओं की प्रचुरता है।

उद्दीपन रूप में भी प्रकृति का चित्रण किया गया है। पल्लव में प्रकृति के इस रूप का प्राधान्य है। किंतु उत्तरा में भी यत्र-तत्र कवि की वियोग भावना प्रकृति को अपने रंग में डुबो देती है। ‘शरदागम’ कविता में प्रकृति का उद्दीपन रूप लक्षित होता है—

आज प्राण चिर चंचल ।

नवल शरदऋतु, ओस धुला मुख,

धूप हँसी सी निश्छल ।

+

+

+

आज मिलन को उर अति विह्वल

मानस में स्वप्नों का बादल

भर-भर पड़ता, किन स्मृतियों में,
सुलगा चिर विरहानल ।”

पृ० ६६, १००

यहाँ आरम्भिक पंक्तियों में प्रकृति का उद्दीपक प्रभाव स्पष्ट है। प्रकृति के ओस धुले मुख और उज्ज्वल हँसी में उसका मानवीकरण है जिसमें प्रेयसी की शोभा की छाया है। अन्तिम पंक्तियों में तो मिलन की विह्वलता और विरहानल की ज्वाला स्पष्ट है। यह विह्वलता और विरहानल नवीन चेतना के पक्ष में नहीं खींचा जा सकता। अन्तिम छन्द में कवि ने सम्पूर्ण प्रकृति-वर्णन को चेतना की ओर उन्मुख करने का प्रयास किया है किंतु यह प्रणय की असफलता को छिपाने का व्यर्थ प्रयास है। प्रणय की विह्वलता और नवीन चेतना की आकांक्षा में भेद तो दिखाई देता ही है। ऋतु सम्बन्धी एक ही कविता में हमें तीन विशेषताएँ लक्षित होती हैं। कहीं तो कवि ने प्रकृति का स्वच्छन्द वर्णन किया है, कहीं उसका उद्दीपक रूप निखरा है और कहीं उसका नवीन चेतना से समन्वय है। जहाँ कवि ने कविता के अन्त में ऋतु को नवीन चेतना का प्रतीक घोषित किया है वहाँ सारी कविता अन्योक्ति का रूप धारण कर लेती है। किन्तु प्रश्न यह होता है कि क्या कवि उसका सफल निर्वाह कर सका है या नहीं ?

कहीं-कहीं कवि ने प्रकृति के साथ तादात्म्य भावना को भी प्रकट किया है। यह भावना वीणा की कविताओं में अनेक स्थानों पर मुखरित हुई है। प्रकृति के मनोहर रमणीक रूप को देखकर उसमें रम जाने की इच्छा होती है। ‘शरदागम’ कविता में ही कवि ने लिखा है—

“जी करता शोभा तप में मिल
विचरूँ छायावन में झिलमिल,
जाने किस पथ से, निसर्ग में
खो, हो जाऊँ ओझल ।”

पृ० १००

‘शरद् चेतना में भी ऐसा ही भाव आया है—

“तुम मुझे डुबालो अपने में

या मुझमें स्वयं जाओ डूब,
तुम फूटो मेरा मोह चीर
ज्यों कढ़ती भू को चीर दूब ।”

पृ० १०२

इन दोनों उद्धरणों में एक स्पष्ट भेद है । द्वितीय उद्धरण में कवि का कथन प्रकृति के प्रति न होकर चेतना के प्रति है । किन्तु यहां पर कवि प्रकृति और चेतना का समन्वित वर्णन कर रहा है । इसलिए यहां भी उसका चेतना तथा प्रकृति दोनों के प्रति ही अनुराग स्पष्ट व्यंजित है । प्रथम उद्धरण का कथन शुद्ध रूप से प्रकृति के प्रति ही है । प्रकृति से तादात्म्य भावना में मानव हृदय और प्रकृति के घनिष्ठ संबंध का चरम रूप लक्षित होता है । ‘वीणा’ में ठीक ऐसा ही भाव कवि ने व्यक्त किया है—

“तुदिन बिन्दु बनकर सुन्दर”,

कुमुद किरण से सहज उतर,

मा ! तेरे प्रिय पद पद्मों में,

अर्पण जीवन को करदूँ—

इस ऊषा की लाली में ।”

दृ० ३

यह ऊपर कहा जा चुका है कि प्रकृति सम्बन्धी कविताओं में हृदय के भावों तथा नवीन सांस्कृतिक उत्कर्षों को संजोने के अतिरिक्त कुछ पंक्तियां ऐसी भी हैं जहाँ कवि स्वतन्त्र रूप से प्रकृति-चित्रण में तल्लीन दिखाई देता है जो निम्नलिखित उद्धरणों में स्पष्ट है—

१— “अब बिखर गया पावस का धन,

ठण्डा निदाघ का खर अंगार,

अब हँसती उज्ज्वल धुली धूप

उजियाली में आया निखार ।”

शरद चेतना पृ० १०१

२— “चंद्रातप सा मृदु मूर्यातप

तारों से हिम दु रहे कँप

स्वप्न चरण धरती वह भूपर
दिवस निशा छुवि करता धारण ।”

चन्द्रमुखी-पृ० १०३

३-- ‘‘फूलों में मृदु अंग लपेट कर,
किरणों के सौ रंग समेट कर,
गुंजन कूजन से जग को भर
फिर बसंत की आत्मा आई,
हरित शुभ्र स्वर में भर भर्भर,
अरुणपीत लौ में कंप कंप कर।’’

बसंत-१४३

(यहाँ कोई यह प्रश्न कर सकता है कि यह कैसा कहा जा सकता है कि एक ही कविता में प्रकृति को एक से अधिक दृष्टियों से देखा जा सकता है। इस प्रश्न को उठाने वाला यह मानकर चलता है कि प्रकृति को एक ही दृष्टिकोण से देखा जा सकता है। किन्तु ऐसा मानना निराधार तथा अनुचित है। यदि कविता के अन्त में प्रकृति का उद्दीपक प्रभाव दिखाया गया है तो क्या सारा प्रकृति वर्णन उद्दीपन का चित्र हो जाएगा? और तब भी जब बीच में कवि उसे तटस्थ रूप से या नवीन चेतना के रूप में देखता है? प्रत्येक कविता की आत्मा का निश्चय किसी एक ही भाव को देखकर नहीं किया जा सकता। सभी भावों, दृष्टियों तथा रूपों को समझने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। पल्लव के प्रकृति वर्णन की समीक्षा करते हुए दूसरी पुस्तक में इस बात को भलीभाँति स्पष्ट कर दिया है।)

एक दो स्थान पर कवि ने प्रकृति-चित्रण में रहस्य-संकेतों की उद्भावना की है। ‘शरदागम’ की ये पंक्तियाँ हैं—

‘‘कौन भेजता मौन निमंत्रण
मुझे निभृत देने हृदयासन।
स्वप्नों के पट में लपेट उर,
तन मन करता शीतल !’’

पृ० १००

यहाँ मौन निमंत्रण भेजने वाला अव्यक्त ब्रह्म नहीं है किन्तु फिर भी यहाँ

रहस्य की सृष्टि तो पाई ही जाती है। उस रहस्य-संकेत को परंपरित रहस्य-वाद के समझ रखकर नहीं देखना चाहिए।

पन्त के काव्य में प्रकृति-चित्रण के परिवर्तित रूप को देखने से एक महत्वपूर्ण, सत्य को प्रदर्शित किया जा सकता है। आरम्भिक अवस्था में पन्त की रचनाओं में प्रकृति का विस्तृत सूक्ष्म चित्रण मिलता है। युगपथ, युग-वाणी में उसका हास हुआ है। ग्राम्या में प्रकृति-चित्रण का वह रूप नहीं है जो आरम्भिक रचनाओं में था। उत्तरा में फिर से प्रकृति का सरस सुरम्य चित्रण हुआ है। जब पन्त 'युगवाणी' का निर्माण कर रहा था, यह कहा जाता था कि वह काव्य की सच्ची भूमि से दूर है। उत्तरा में काव्य की कलात्मकता के दर्शन होते हैं। उत्तरा की कला में युगवाणी की कला की अपेक्षा अधिक चमत्कार और सौन्दर्य है। इस विकास-क्रम द्वारा साहित्य-सौन्दर्य और प्रकृति का घनिष्ठ सम्बन्ध देखा जा सकता है। पल्लव की रचनाओं में सरसता है, सौन्दर्य है और वहाँ प्रकृति-चित्रण भी है। उत्तरा में कला है, सौन्दर्य है और प्रकृति-चित्रण भी है। एक ही कवि के इस विकास को देखकर काव्य-सौन्दर्य के सृजन में प्रकृति के महत्त्वपूर्ण स्थान का आभास मिल जाता है।

सामाजिक चेतना

जब भावुकता का विस्फोट होता है तो बौद्धिक जागरण की लपटें फूट निकलती हैं। 'पल्लव' में ही आँसू के कवि की भावुकता परिवर्तन की दारुण सजगता में बिखर गई। वेग और शक्ति की दृष्टि से इन दोनों कविताओं में भेद नहीं है। एक में भावुकता की शक्ति है और दूसरी में बौद्धिकता की। प्रायः देखा गया है कि कवि-जीवन का आरम्भ प्रणय की गहराई में होता है किन्तु कवि का निरंतर विकासमान व्यक्तित्व उसी में सीमित होकर नहीं रहता। वह अपने व्यक्तिगत जीवन की करुणा में समाज की करुणा को विस्मृत नहीं कर देता। 'आँसू' के पन्त में व्यक्तिगत करुणा है। परिवर्तन में उसे संसार की क्षणभंगुरता लक्षित होती है। वहाँ से कवि की सामाजिक-चेतना का विकास-निखार आरम्भ होता है। इससे पूर्व कि हम पन्त की सामाजिक चेतना का विवेचन मूल्यांकन करें, यह आवश्यक प्रतीत होता है कि

साहित्य और सामाजिक चेतना का सम्बन्ध देख लिया जाए ।

जब हम हिंदी साहित्य के प्राचीन इतिहास को देखते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि बहुत कम कवियों में उनके युग की छाया दिखाई देती है । वीर गाथा काल के कवियों में प्रधानता है राजाओं के कल्पित प्रशस्तियों की । कवि और काव्य दोनों की ही सत्ता दरबारों तथा राजाओं तक सीमित हो गई थी । भक्तिकाल के कवियों में प्रधानता रही भक्ति की । किन्तु भक्ति के साथ उपदेश का घनिष्ठ सम्बन्ध है । भक्तिकाल के आरम्भ में ही हमें कबीर की साखियों और पदों में उसके युग का दर्शन होता है । यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण बात है । कबीर ने धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक, सभी क्षेत्रों में समाज की कटुता को मिटाकर उसमें सामरस्य की स्थापना का प्रयत्न किया । तुलसीदास ने भी अपने युग-जीवन को मुखर किया तथा जीवन के विविध दृष्टिकोणों की विषमता दूर करने का प्रयत्न किया । जहाँ तक सामाजिक चेतना का प्रश्न है, कबीर और तुलसी दोनों ही समान रूप से गौरवशाली हैं । किंतु इन कवियों की सामाजिक चेतना की रीढ़ भक्ति । भक्ति ही इनका प्रधान प्रतिपाद्य था । बिना भक्ति के मनुष्य पशु के समान है । एक बात ध्यान में रखनी चाहिए । भक्ति और सामाजिक चेतना का अनिवार्य अविभाज्य सम्बन्ध नहीं है ।

भक्तिकाल में हमें साहित्य और समाज की जिस निकटता के दर्शन हुए, वह रीतिकाल में आकर पूर्णतः लोप हो गई । रीतिकाल के कवि और काव्य दोनों ने समाज की उपेक्षा की । आधुनिक युग के आरम्भ में ही साहित्य में सामाजिक सजगता की छाप दिखाई देती है । भारतेन्दु ने अपने समाज के जीवन की विषमताओं तथा व्यथाओं को अभिव्यक्ति किया । भारतेन्दु में जहाँ सामाजिक सजगता लक्षित होती है, वहाँ उनकी धर्म भावना भी शक्तिशाली थी जो चन्द्रावली नाटिका में अभिव्यक्त हुई है । भक्तिकाल में कबीर और तुलसी दोनों में भक्ति के साथ-साथ लोककल्याण की भावना का भी पूर्ण परिपाक हुआ है । किन्तु कबीर या तुलसी और भारतेन्दु में भेद है । कबीर और तुलसी ने समाज को गौण रूप से स्वीकार किया । इसीलिए उनके प्रवर्तित सम्प्रदायों में साहित्य और समाज की अभिन्नता स्थापित नहीं हुई । कबीर पर

यह बात पूर्णतः लागू नहीं होती। कबीर द्वारा प्रवर्तित संतों की परम्परा में साहित्य और जीवन का घनिष्ठ सम्बन्ध लक्षित होता है। इसका कारण यह है कि तुलसी की अपेक्षा कबीर अपने युग के जीवन के अधिक निकट था। किन्तु संतों ने भी जीवन के समग्र रूप को स्वच्छंद दृष्टि से नहीं, देखा। भारतेन्दु ने अपने युग के जीवन को भक्ति की भूमिका में नहीं, स्वतंत्र रूप से देखा था। इसलिए भारतेन्दु के पश्चात् साहित्य और सामाजिक जीवन का अभिन्नत्व लक्षित होती है। साहित्य के विकास में यह एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। साहित्य में जब सामाजिकता ने प्रवेश किया तो उसका रूप और आत्मा दोनों में विकास हुआ। सामाजिक चेतना का अभिप्राय केवल सामाजिक जीवन से नहीं है, वरन् समाज के समग्र जीवन की चेतना से है जिसमें राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि सभी पहलू आ जाते हैं। सामाजिक जीवन से समन्वित साहित्य, हिन्दी के प्राचीन साहित्य से भिन्नता रखा है। अभी इस दृष्टि से हिन्दी साहित्य का अध्ययन नहीं किया गया। जब आधुनिक युग में साहित्य का स्वरूप परिवर्तित हुआ तो उसकी आलोचना के मानदण्डों में भी परिवर्तन होना स्वाभाविक तथा अनिवार्य ही था। किन्तु इस विषय पर विस्तृत विश्लेषण अभी नहीं हुआ।

संस्कृत साहित्य में महाकाव्यों की रचना हुई और उनमें जीवन के विविध पहलुओं पर विस्तृत दृष्टिपात किया गया था। किन्तु इतना होते हुए भी संस्कृत के काव्य शास्त्र में इस विषय को कोई स्थान नहीं दिया गया। यह एक बड़े आश्चर्य की बात है। प्राचीन आचार्यों ने काव्य के कलापक्ष—अलंकार, शब्दशक्ति, छन्द आदि पर तो बड़ी विस्तृत तथा सूक्ष्म विवेचना की है। काव्य-रूपों के स्वरूप का गहन विवेचन कर महाकाव्य, नाटक आदि के लक्षण भी नियत किए गए जिनका पालन वैज्ञानिक नियमों के समान अनिवार्य माना जाने लगा। इसके साथ ही साथ काव्यानन्द पर विस्तृत विचार किया गया और रस-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की गई। यह सब होते हुए भी संस्कृत के आलोचना शास्त्र की सबसे बड़ी कमी यह है कि उन आचार्यों ने साहित्य में सामाजिक चेतना के महत्व और अनिवार्यता पर विस्तृत विचार नहीं किया। वैसे उन्होंने काव्य की उपयोगिता को स्वीकार

किया है किन्तु उसका वैसा निरूपण नहीं हुआ जैसा अलंकारों, रसों वा लक्ष्णों का हुआ। मम्मट ने काव्य के प्रयोजन बताते हुए लिखा है—

“काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतर रत्नतये।

सद्यः परनिवृत्तये कान्ता सम्मितयो पदेशयुजे॥”

कवि को काव्य रचना द्वारा यश और अर्थ को प्राप्ति होती है तथा अमंगल से उसकी रक्षा होती है। इसके साथ ही साथ काव्य के विद्वान को भी यश प्राप्त होता है, धन प्राप्त होता है, व्यवहार ज्ञान होता है, अशिव से उसकी रक्षा होती है, रसानुभूति होती और मधुर उपदेश-लाभ होता है। यहाँ मम्मट ने काव्य की उपयोगिता को स्वीकार किया है। इससे काव्य और जीवन के सम्बन्ध का ज्ञान होता है किन्तु इन बातों का विस्तार नहीं हुआ। काव्य के अन्य अंगों और तत्वों के लम्बे-चौड़े विस्तार को देखकर यही कहना पड़ता है कि प्राचीन काव्य-शस्त्रियों ने साहित्य में सामाजिक-चेतना की महत्ता की उपेक्षा की है। यह संस्कृत काव्य शास्त्र की निर्बलता है।

प्राचीन साहित्य शास्त्र की इस निर्बलता के कारण कभी-कभी हिंदी-साहित्य के सही मूल्याङ्कन में बड़ी बाधा होती है। हिंदी के जिन विद्वानों पर संस्कृत काव्य शास्त्र का गहरा रंग है वह उन रचनाओं का विरोध करने लगते हैं जिनमें सामाजिक चेतना की प्रधानता होती है। पंत की ‘युगवाणी’ की रचनाओं तथा स्वर्ण काव्य आदि परवर्ती रचनाओं की जो उपेक्षा हुई वह इस कथन की सत्यता को प्रमाणित कर देती है। विद्वानों का यह विश्वास कि रसात्मक वाक्य ही काव्य है, हिंदी साहित्य में सामाजिक चेतना के विकास और निखार के लिये बड़ा घातक है। जिस प्रकार संस्कृत के आचार्यों ने काव्य में रस को ही प्रधान माना है उसी प्रकार हिंदी के विद्वान भी रस को किसी रचना के कवित्व की कसौटी मानते हैं। किन्तु इस सिद्धांत से हिंदी के अनेक रूप साहित्य का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। और जो साहित्य इसके भीतर नहीं आता, उसका सही मूल्यांकन असम्भव हो जाता है। मैं साहित्य में रस की महत्ता को अस्वीकार नहीं करता, वरन् काव्य में सामाजिक चेतना का भी महत्त्व मानता हूँ। यदि हम रस के सिद्धान्त को ही साहित्य की श्रेष्ठता की एकमात्र कसौटी मानें तो उपन्यास, कहानी और

निबन्ध आदि का सही मूल्यांकन कैसे हो सकता है। केवल कविता ही तो साहित्य नहीं है। और फिर कविता में भी तो सामाजिक चेतना हो सकती है और होती है।

सामाजिक चेतनाके दो रूप हो सकते हैं और होते हैं। सामाजिक चेतना का एक रूप भावात्मक है और दूसरा बौद्धिक। जब साहित्यकार किसी भी सामाजिक विषमता या समरसता का हृदय पर प्रभाव दिखाने में प्रवृत्त होता तो उसका प्रयास भावात्मक ही कहा जाएगा। जब कवि का ध्यान किसी भी सामाजिक रुचि का विश्लेषण करने की ओर होगा तो उसका उपक्रम बौद्धिक कहा जाएगा। यह बात स्वतः स्पष्ट है कि व्यवहार में बौद्धिकता और भावुकता का वैसा निर्दिष्ट भेद नहीं है जैसा विश्लेषण में दिखाया या समझा जाता है। जब किसी व्यवस्था का विश्लेषण किया जाता है तो उसमें भावुकता का न्यूनाधिक समावेश स्वाभाविक ही है। उसी प्रकार प्रभाव के सृजन के लिए बौद्धिक उदघाटन की भी आवश्यकता होगी ही। जब हम साहित्य में सामाजिक चेतना के दो रूप—भावात्मक और बौद्धिक—स्वीकार कर लेते हैं तो हमें उनके औचित्य या अनौचित्य दोनों का विचार करना चाहिए। भावात्मक दृष्टिकोण के औचित्य के फलस्वरूप भावगत साधारणीकरण होता है और बौद्धिक दृष्टि के औचित्य के फलस्वरूप बुद्धिगत साधारणीकरण होता है। एक बात और भी विशेष ध्यान देने योग्य है। भावात्मक दृष्टिकोण में विभिन्न साहित्यकारों में समानता लक्षित होती है जिसका दर्शन रसों की संख्या आदि के निर्धारण में होता है। किंतु सामाजिक चेतना के बौद्धिक पक्ष में साहित्यकारों में पर्याप्त भेद पाया जाता है। इस भेद का प्रधान कारण है कवि की बौद्धिक चेतना का किसी मत विशेष में ग्रस्त होना।

साहित्य में सामाजिक चेतना की अनिवार्यता को स्वीकार कर लेने के पश्चात् तथा उसके दोनों रूपों का निश्चय कर लेने के पश्चात् हमारे सामने साहित्य के निष्पक्ष मूल्यांकन का प्रश्न आता है। क्या साहित्य की श्रेष्ठता का आधार उसकी बौद्धिक चेतना है? क्या साहित्यके उत्कर्ष का रहस्य उसकी भावात्मक चेतना है? उपर्युक्त विवेचन को सही-सही समझ लेने के पश्चात् दोनों प्रश्नों के उत्तर में एक सत्य कहा जा सकता है और वह यह कि साहित्य

में दोनों ही अनिवार्य हैं। यह सम्भव है कि कहीं बौद्धिकता की प्रधानता हो और कहीं भावुकता की। किंतु क्या एक के पूर्ण अभाव में दूसरे के पुष्ट-विकास के कारण किसी रचना को साहित्य कहा जा सकता है? यदि बृद्धि-पक्ष गौण है और रसानुभूति की गहराई है तो क्या कोई रचना साहित्य नहीं कहा जा सकती? मीरा के पदों में तथा महादेवी की कविताओं में बुद्धिपक्ष अत्यन्त क्षीण है किन्तु हम उन पदों या रचनाओं की साहित्यिकता से इन्कार नहीं कर सकते। तो यह सिद्ध हुआ कि बौद्धिक चेतना के अत्यन्त क्षीण होने पर और भाव की तीव्रता होने पर कोई भी रचना साहित्य कही जा सकती है। अब दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या वह रचना साहित्य कही जा सकती है जिसमें भावात्मकता अत्यन्त धूमिल हो और बौद्धिकता का वेग हो। इसी प्रश्न को पंत की युगवाणी, स्वर्ण किरण, उत्तरा आदि की रचनाओं के विषय में उठाया जाता है। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें कवि की बौद्धिक चेतना का स्वरूप समझना होगा। उसके सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् ही हम रचनाओं की साहित्यिकता का निश्चय कर सकते हैं। साहित्य का प्राण समत्व है। यदि बौद्धिक दृष्टिकोण समत्व पर आधारित है तो निस्सन्देह हम उन कृतियों को साहित्य मानेंगे। यदि हम उपर्युक्त प्रश्न को गीतों तक ही सीमित न रखकर साहित्य की अन्य विधाओं के विषय में भी उसे उठाएँ तो इस उत्तर की सत्यता भली भाँति सिद्ध हो सकती है। उपन्यासों में, कहानियों में, निबन्धों में तथा अन्य साहित्य शैलियों में बौद्धिकता की प्रधानता होती है। इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। किन्तु फिर भी वह साहित्य के भीतर ही आएँगी। हमें कविता के स्वरूप का अध्ययन निबन्ध, उपन्यास आदि से अलग करके नहीं करना चाहिए। साहित्य में सामाजिक चेतना के उदय के साथ-साथ गद्य-साहित्य का विकास और निखार द्रुत गति से हो रहा है। किन्तु कविता में भी हमें सामाजिकता की भाँकी मिलती है। वह कविता में आकर उसका दोष नहीं हो जाती।

पन्त में सामाजिक चेतना का विकास

युग और व्यक्तित्व-विकास में पंत की सामाजिक चेतना को युग की बौद्धिक मान्यताओं और आकांक्षाओं के बीच रखकर देखा जा चुका है। किंतु पंत के व्यक्तित्व के विकास में कौन-कौन सी अवस्थाएँ हैं और वह किन-किन रचनाओं में प्रस्फुटित हुई हैं, उसका विस्तृत स्पष्टीकरण वहाँ नहीं हो सका। यहाँ मुख्यतः यह देखने का उपक्रम किया जाएगा कि पन्त की रचनाओं के क्रमिक विकास में उस पर किस चिंतक का क्या प्रभाव पड़ा है? इसका विशद स्पष्टीकरण तो दूसरी पुस्तक X में किया जा चुका है। यहाँ उसका संक्षिप्त विवरण आवश्यक है, क्योंकि बिना उसे समझे उत्तरा की सामाजिक चेतना का सही मूल्यांकन कठिन ही नहीं असंभव भी होगा।

‘वीणा’ से लेकर ‘पल्लव’ तक की रचनाओं में कवि का हृदय, उसका प्रेम और असफलता की टीस ही उबलती दिखाई पड़ती है। किसी किसी कविता में हमें उसके बौद्धिक जागरण की झलक लक्षित होती है। वीणा की रचनाएँ कवि के स्वच्छन्द व्यक्तित्व के अध्ययन के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। प्रकृति प्रेम तथा माँ के पुनीत प्रेम के अतिरिक्त उसमें सधन रंग है आदर्श भावना का। कवि के मन में लोकहित की भावना उमड़ती रहती है और वह ‘जग के तिमिर-त्रास’ को हरने के लिए सन्नद्ध दिखाई देता है। असफल प्रेम की ग्रन्थि और वियोग के पल्लव कवि की इस आदर्श भावना को अवगुण्ठित कर देते हैं। किन्तु वियोग के पल्लवों के बीच ही उसे निराशा के पतझर का भी साक्षात्कार होता है जो निष्ठुर परिवर्तन में गरज उठा है। यह कवि की सामाजिक चेतना के पुनर्जागण की बेला है।

गुञ्जन में कवि के प्रेम और वियोग की अभिव्यक्ति के साथ-साथ उस दार्शनिक शान्ति का स्वर भी गहरा है जिसमें परिवर्तन की निष्ठुरता का अन्त हुआ था। किन्तु उपनिषदों के इस दार्शनिक तत्व में उसे एक बात की कमी लक्षित हुई। उसने देखा कि यह शांति व्यक्तिगत है। व्यक्ति अपनी साधना से अपना संतोष कर लेता है किन्तु आज के युग में ऐसे साधनों का क्या मूल्य

जो समाज के तड़पते हृदय को शांत न करें। अब प्रश्न यह उठता है कि क्या उपनिषदों द्वारा समाज का कोई लाभ नहीं? क्या इनका दर्शन जीवन संग्राम से पलायन वृत्ति का प्रतीक है? इस प्रश्न के विस्तृत उत्तर के लिए यहाँ स्थान नहीं है क्योंकि हमें उपनिषदों का स्वतन्त्र अध्ययन नहीं करना है वरन् उन्हें पंत से सम्बद्ध करके देखना है। उपनिषद ज्ञान संबंधी संदेहों तथा आक्षेपों का उत्तर स्वामी विवेकानन्द ने अपने लेखों तथा भाषणों में भली भाँति दिया है। उन्होंने उपनिषद दर्शन तथा समाज-कल्याण में सामरस्य स्थापित करने का प्रयत्न किया। यद्यपि उन्होंने अद्वैतवाद को स्वीकार किया किंतु सामाजिक जीवन के लिये उपयोगी बनाने में उसे नई दृष्टियों से समन्वित करना आवश्यक था। पन्त, जो प्रधानतः मानव संस्कृति का कवि है और जिसका लक्ष्य सदैव समाज की सार्वभौम उन्नति ही रहा-स्वामी विवेकानन्द से विशेष रूप से प्रभावित हुआ। आध्यात्मिकता पर उसकी दृढ़ आस्था होगई। उसके सामने यह बिल्कुल स्पष्ट होगया कि जब मनुष्य के मानसिक अवस्था में विकास नहीं होगा जब तक वह प्राचीन जड़ अन्धविश्वासों की शृङ्खला से मुक्त नहीं होगा, तब तक उसे शांति प्राप्त नहीं हो सकती। मनुष्य की सार्वभौम उन्नति के लिए भीतरी क्रांति की आवश्यकता है। मनुष्य को हृदय की विभूतियों का परिष्कार कर उन्हें सशक्त बनाना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि मनुष्य में दो प्रवृत्तियाँ लक्षित होती हैं। प्रथम, मनुष्य अपने नैतिक आदर्शों तथा साँस्कृतिक लक्ष्यों को अपनी साधना शक्ति के अनुकूल करता है। यह क्षुद्रता की निशानी है। द्वितीय, मनुष्य नैतिक आदर्शों तथा साँस्कृतिक लक्ष्यों के अनुसार अपनी साधना शक्ति को तरंगित करता है। यह महिमा का चिह्न है और स्पृहणीय है। सार्वभौम उन्नति तभी संभव है जब मनुष्य के नैतिक आदर्श भी महान हों और उन्हें प्राप्त करने के लिये मनुष्य में मानसिक बल हो। पन्त ने गिरती मिटती हुई मानव जाति को मानसिक बल सञ्चित करने के लिये ललकारा।

यह ठीक है कि नए मानव का निर्माण करने के लिये मानसिक उत्कर्ष की आवश्यकता होती है। किन्तु मनुष्य की आवश्यकताएं केवल साँस्कृतिक तथा मानसिक ही नहीं, भौतिक भी हैं। उसे मस्तिष्क का विकास भी चाहिये

और जीवन की बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति भी । गुञ्जन तक कवि को यह विश्वास हो चुका था कि मनुष्य को मानसिक परिष्कार की आवश्यकता है । युगान्त, युगवाणी और ग्राम्या में उसकी दृष्टि बाह्य आवश्यकताओं की ओर जाती है । कुछ आलोचकों ने कवि के इस वस्तुमुखी दृष्टिकोण को प्रधान मानकर उसे प्रगतिवादी (मार्क्सवाद) घोषित किया तथा यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि पन्त ने एकदम नई दिशा की ओर कदम बढ़ाये हैं । किंतु ऐसा कहना स्थूल दृष्टि के लिये भले ही सन्तोषप्रद हो, किंतु सूक्ष्म दृष्टि के लिए तो यह कोरे विरोध चमत्कार के अतिरिक्त और कुछ नहीं । युगांत, युगवाणी तथा ग्राम्या में पंत एकदम नई दिशा की ओर नहीं बढ़ा । उसकी मूल मनोवृत्तियाँ अब भी वही हैं जो पूर्ववर्ती काव्य में थीं । यहाँ आकार भी उसकी आदर्शभावना का हास नहीं हुआ, उसका अध्यात्मिकता का मोह कम नहीं हुआ उसका संस्कृति प्रेम क्षीण नहीं हुआ । इन सब मूल विशेषताओं के होते हुये भी उसने मानव के बाह्य जीवन की ओर गंभीर एवं सूक्ष्म दृष्टि डाली है । इस दृष्टि पर दो चिन्तकों का सघन प्रभाव है । वे चिन्तक हैं मार्क्स और गाँधी ।

युग पथ, युगवाणी और ग्राम्या में पन्त के स्वर्णों में भौतिक क्रान्ति के स्वर्णों की प्रधानता है । आध्यात्मिक परिवर्तन और विकास की बात वह गुञ्जन में ही कह चुका था । युगवाणी आदि में आकर भी वह अपने इस मूल स्वर को भूला नहीं वरन वह कुछ दबा हुआ सा है क्योंकि अब वह जीवन की बाह्य विषमताओं की भीषणता प्रदर्शित कर उससे मुक्ति का उपाय सोचता है । मार्क्स की दृष्टि जीवन की भौतिक परिस्थितियों के वैज्ञानिक अध्ययन में रत रही । उसने समाज के ऐतिहासिक अध्ययन द्वारा वर्ग-संघर्ष के सिद्धांत की स्थापना की तथा भौतिक विकासवाद के सत्य को प्रदर्शित किया । मार्क्सवाद का मूल स्वर यह है कि सामाजिक सांस्कृति चेतना को नियंत्रित करने वाली युग की भौतिक परिस्थितियाँ होती हैं । चेतना भौतिक परिस्थितियों का सृजन नहीं करती वरन भौतिक परिस्थितियों द्वारा ही वह निर्मित होती है । इतिहास हमें यह बताता है कि एक वर्ग सदैव दूसरे वर्ग से संघर्ष करता रहा जिसका कारण उनके हितों का आपस में टकराना । इसलिए यदि

मनुष्य शांति चाहता है तो उसे वर्गहीन समाज की स्थापना करनी चाहिये । मार्क्सवाद का आदर्श एक ऐसा वर्ग हीन समाज है जिसमें प्रत्येक वस्तु पर पूरे समाज का अधिकार है, किसी एक व्यक्ति को नहीं । युगवाणी में और उसके बाद पन्त भी जीवन की भौतिक परिस्थितियों की क्रान्ति की बात जहता है । बाह्य क्रान्ति के क्षेत्र में वह मार्क्स से प्रभावित है । किंतु वह अपने इस प्रभाव को सीमित कर देता है । मार्क्सवाद में उसे जो बात सबसे अधिक आकृष्ट करती है, वह है उसका बाह्य जीवन की पूर्णता का सिद्धान्त जिसमें वह मनुष्यमात्र को समान अधिकार देकर उसके भौतिक जीवन को पूर्ण रूप से सुखी देखना चाहता है । उत्तरा की भूमिका में उसने अपनी इस बात को स्पष्ट किया है—

“मार्क्सवाद का आकर्षण उसके खोखले दर्शन-पक्ष में नहीं, उसके वैज्ञानिक (लोकतंत्र के रूप में मूर्त) आदर्शवाद में है, जो जनहित अथवा सर्वहारा का पक्ष है; किन्तु उसे वर्ग क्रान्ति का रूप देना अनिवार्य नहीं है । वर्गयुद्ध का पहलू फ्रांसिज़म की तरह निकट भविष्य में पूँजीवादी तथा साम्राज्यवादी युग की दूसरी प्रतिक्रिया के रूप में विकृत एवं विकीर्ण हो जायगा ।”

पृ० २१

इस प्रकार उसे मार्क्सवाद में अच्छाई भी दिखाई दी और बुराई भी । उसे मार्क्सवाद की तीन बातें बिल्कुल रुचिकर नहीं हैं । प्रथम है वर्गयुद्ध का सिद्धान्त जिसका अन्तिम रूप है रक्त-क्रान्ति दूसरी है समाज के महत्व के नीचे व्यक्ति की सत्ता को कुचल देने की बात और तीसरी बात है भौतिकता से आक्रान्त होकर चेतन की शक्ति की अस्वीकृति । उसने यह स्पष्ट कहा है—

“जिस प्रकार हमारे मध्ययुगीन विचारकों ने आत्मवाद से प्रकाश-अंध होकर मानव चेतना के भौतिक (वास्तविक) धरातल को माया, मिथ्या कहकर भुला देना चाहा (जिसका कारण मैं ‘युगवाणी’ की भूमिका में दे चुका हूँ) उसी प्रकार आधुनिक विज्ञान दर्शनवादी—यद्यपि आधुनिकतम भूतविज्ञान पदार्थ के स्तर को अतिक्रमण कर चुका है, तथा आधुनिकतम मनोविज्ञान, तथा जिसे विद्वान अभी शैशवावस्था में ही मानते हैं, चेतन मन

तथा हेतुवाद (रेशनलिज्म) से अधिक प्रधानता उपचेतन अवचेतन के सिद्धान्तों को देने लगा है—और विशेषकर मार्क्सवादी भौतिकता के अंधकार में और कुछ भी न सूझने के कारण मन (गुण) तथा संस्कृति (सामूहिक अन्तर्चेतना) आदि को पदार्थ का बिम्ब रूप, गौण स्तर या ऊपरी अति विधान कहकर उड़ा देना चाहते हैं; जो मान्यताओं की दृष्टि, ऊर्ध्व तथा समतल दृष्टिकोणों में सामंजस्य स्थापित न कर सकने के कारण उत्पन्न भ्रान्ति है। किन्तु मात्र अधिदर्शन (मेटाफिजिक्स) के सिद्धान्तों द्वारा जड़चेतन (मैटर स्पिरिट) की गुत्थी को सुलभाना इतना दुरूह है कि युग-मन के अनुभव के अतिरिक्त इसका समाधान सामान्य बुद्धिजीवी के लिए संभव नहीं। अतएव साहित्य के क्षेत्र में सामान्यताओं की दृष्टि से हम मार्क्सवाद या अध्यात्मवाद की दुहाई देकर आज जिन हास्यप्रद तर्कों में उलझ रहे हैं उससे अच्छा यह होगा कि हम एक दूसरे के दृष्टिकोणों का आदर करते हुए दोनों की सच्चाई स्वीकार कर लें।”

पृ० ७

यहां मार्क्सवाद के एकांगी दृष्टिकोण का खण्डन करने के उपरान्त आगे चलकर पन्त ने मार्क्सवाद में व्यक्ति की परतन्त्रता की विषमता का खण्डन किया है—

“यदि पुरानी दुनिया (मध्य युग) अति वैयक्तिकता के पक्षपात से पीड़ित थी तो नई दुनिया अति सामाजिकता के दलदल में फँसने जा रही है; जिसका दुष्परिणाम यह होगा कि कालांतर में मनुष्य की सुख शान्ति एक किमाकार यांत्रिक तंत्र के दुःसह बहिर्भूत भार से दब जाएगी और वैयक्तिक अन्तः संचरण का दम घुटने लगेगा। हमें व्यवहारिक दृष्टि से भी व्यक्ति तथा समाज को दो स्वतंत्र अन्योन्याश्रित सिद्धान्तों की तरह स्वीकार करना ही होगा तथा मनुष्य की बहिरन्तर्मुखी प्रवृत्तियों के विकास और सामंजस्य के आधार पर ही विश्वतन्त्र को प्रतिष्ठित करना होगा। दोनों संचरणों की मान्यताओं को स्वीकार न करना अशान्ति को जन्म देना होगा।”

पृ० १०—११

इस प्रकार पंत का मार्क्सवाद के प्रति दृष्टिकोण बिल्कुल स्पष्ट हो जाना चाहिये। यहां यह न समझना चाहिये कि उपर्युक्त उद्धरण तो उत्तरा की

भूमिका से हैं इसलिये युगवाणी में भी कवि के यही विचार थे यह नहीं कहा जा सकता । किंतु 'आधुनिक कवि' की भूमिका तथा 'उत्तरा की भूमिका' में कोई विशेष भेद लक्षित नहीं होता । केवल संतुलन तथा स्पष्टता का भेद है । इसके अतिरिक्त युगवाणी में ही पंत ने संकीर्ण भौतिकवादियों के प्रति कविता में भौतिकवादियों को बुरी तरह से फटकारा है—

“आत्मावाद पर हंसते हो भौतिकता का रट नाम ?

मानवता की मूर्ति गढ़ोगे तुम संवार कर चाम ?

वस्तुवाद ही सत्य, मृषा सिद्धांतवाद, आदर्श ?

बाह्य परिस्थिति पर आश्रित अंतर जीवन उत्कर्ष ?”

मार्क्सवाद के प्रति पंत के दृष्टिकोण को समझकर अब यह देखना होगा कि स्वर्णकिरण आदि में उसने अध्यात्मवाद और गांधीवाद को किस दृष्टिकोण से देखा है और कहाँ तक उन्हें अपने आदर्श के अनुकूल पाया है । अध्यात्मवाद की एकांगिता का उसने सबल विरोध किया है । गाँधी के सत्य और अहिंसा से पंत विशेष रूप से प्रभावित हुआ है । गाँधीवाद के प्रति उसके संतुलित दृष्टिकोण यह है कि जब मनुष्य का विकास हो जाएगा तभी अहिंसा उसके लिये रमणीय हो सकेगी । गांधी ने वर्ण-व्यवस्था को स्वीकार किया था किंतु पंत ने उसका भी खंडन कर वर्गहीन समाज को अपना आदर्श बनाया । ग्राम्या तक कवि का दृष्टिकोण बाह्य जीवन के उत्कर्ष की ओर अधिक रहा यद्यपि स्थान-स्थान पर उसने अपने इस विश्वास की ही घोषणा की है कि जब तक मनुष्य में आन्तरिक साम्य नहीं होगा, बाह्य विधान उसके लिए बन्धन स्वरूप ही रहेंगे । किन्तु फिर भी यह सत्य है कि ग्राम्या तक उसका उद्देश्य बाह्य जीवन की क्रांति की ओर अधिक रहा । ग्राम्या के पश्चात् उसका प्रधान वर्ण्य विषय रहा मानव की मानसिक अवस्था की क्रान्ति तथा उसके उत्कर्ष का वर्णन । पंत के चिंतन को समझने के लिए इन विशेषताओं को ध्यान में रखना चाहिये । चिन्तन के नकारात्मक पक्ष में उसने (१) कोरे अध्यात्मवाद का खण्डन किया है, (२) कोरे गांधीवाद का खण्डन किया है, और (३) कोरे मार्क्सवाद का खण्डन किया है । चिंतन के सृजनात्मक पक्ष में उसने (१) द्वैतवाद-मार्क्सवाद के समन्वय का प्रयत्न किया, (२)

गांधीवाद-माक्सवाद का समन्वय और (३) अर्ध्यत्मवाद-भूतवाद का समन्वय किया । समन्वय के इन तीनों रूपों में अन्तिम रूप ही अधिक स्पष्ट एवं पंत के चिंतन का पूर्णतः स्पष्ट करता है । चिंतन के इन रूपों का 'सुभिन्नानन्दन पन्त' में विशद विवेचन किया है इसलिए यहाँ उसके दुहराने की आवश्यकता नहीं है । ग्राम्या के पश्चात् पंत की सामाजिक चेतना पर अरविन्द के दर्शन का विशेष प्रभाव पड़ा है । इसलिए अब अरविन्द की मान्यताओं को स्पष्ट कर, पंत के विश्वासों से उनके समन्वय का प्रयास किया जाएगा ।

अरविन्द दर्शन

मानव की आकांक्षाएँ क्या हैं ? वह पूर्ण ईश्वरत्व, उन्मुक्त शक्ति, अनन्त ज्ञान, अपरिमित आनन्द और अबाध स्वतंत्रता चाहता है । वह आज भी यही चाहता है, कल भी यही चाहता था, और आगे भी यही चाहेगा ।

चेतना और पदार्थ का सामरस्य-आध्यात्मिक क्षेत्र में भी मानव साधना का लक्ष्य यही कामनाएँ और भौतिक क्षेत्र में भी । हमें बताया जाता है कि शंकराचार्य आदि ज्ञानियों ने भूत-जगत का पूर्ण तिरस्कार करके जीवन की चरम सफलता—ये सभी विभूतियाँ प्राप्त कीं । आज हम देखते हैं कि विज्ञान आत्मजगत का पूर्ण तिरस्कार कर मनुष्य के उच्चतम लक्ष्य की पूर्ति—इन्हीं इच्छाओं की पूर्ति में—संलग्न है । विज्ञान और आध्यात्म का यह युद्ध आज भी चल रहा है । क्या यह संभव है कि दोनों का उद्देश्य एक होते हुए भी उनमें भयङ्कर शत्रुता हो ?

श्री अरविन्द ने यह सिद्ध किया है कि चेतना और पदार्थ में यह विरोध देखने का कारण है मानव की संकुचित दृष्टि । इस प्रकार की समस्याएँ तभी उठती हैं जब मानव-चेतना में उलझने हों, जब वह भीतरी सामरस्य के दर्शन करने में असमर्थ हो । हमें अपने में जो गलतियाँ दिखाई देती हैं, वे कभी सत्य हैं—भले ही अनिर्दिष्ट रूप में ।

वास्तव में देखा जाए तो पदार्थ और चेतना में कोई विरोध नहीं है । दोनों में सामरस्य है । उपनिषदों में पदार्थ को भी ब्रह्म कहा गया । यह कहना भ्रम है कि संसार असत्य है (शंकर) विज्ञान ने भौतिक आधार पर

जो प्रगति की है उसे भ्रम कहकर नहीं ठुकराया जा सकता। इसके साथ ही साथ ऋषियों-मुनियों ने कठोर साधना करके जिन आत्मिक शक्तियों का उपार्जन और गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन किया है, उन्हें झूठा कह देना भी बुद्धि की विकृति प्रदर्शित करना है।

चेतना और पदार्थ दोनों की उपयोगिता को स्वीकार कर लेने के पश्चात् उन्हें सत्य मान लेने के पश्चात् हमारे सामने प्रश्न आता है कि उनका पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? किस प्रकार हम चेतना और पदार्थ में सामरस्य स्थापित कर सकते हैं ? इस समस्या को हल करने के लिए हमें दो बातें स्वीकार करनी हैं—प्रथम हमें एक सर्वव्यापी सत्ता को पहचानना है जो इन दोनों तत्वों को उचित महत्व और गरिमा पदान करती है। द्वितीय जब हम उस सर्वव्यापी सत्ता और चेतना तथा पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करेंगे तो विकासवाद का सिद्धान्त ही सारी गुत्थियों को सुलभाता है। श्री अरविन्द के दर्शन का मूल है उपनिषद्—ज्ञान और विकासवाद का समन्वय। उपनिषद् का ज्ञान ही विकासवाद को वास्तविक एवं पूर्ण सिद्धान्त बनाने में समर्थ है। श्री अरविन्द ने लिखा है कि प्राचीन पूर्वी ज्ञान और आधुनिक पश्चिमी विज्ञान के समन्वय की ओर ही आज का युग बढ़ रहा है।

उपनिषद् ज्ञान और आधुनिक विकासवाद के स्वरूप को समझने के लिए हमें पहले मूल सत्य से चलना पड़ेगा।

मूल सत्य—संसार में हमें परिवर्तन का ज्ञान होता है। स्वानुभूति में हमें एकरसता का ज्ञान होता है। यह मैं जानता हूँ कि मैं वही हूँ जो परसों था, कल था, आज हूँ या कल हूँगा। सत्य के दो ही रूप हो सकते हैं—एक स्थिर, दूसरा गत्यात्मक। ये दोनों ही सत्य हैं।

“अतः हमारे सामने दो सत्य हैं—एक विशुद्ध सत्ता और द्वितीय विश्व-सत्ता—सत्ता का सत्य और गति का सत्य। किसी एक को अस्वीकार करना आसान है किन्तु सच्ची और फलवती योग्यता तो चेतना के सत्तों को समझने और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के उद्घाटन करने में है।”

(डिवाईन लाईफ प्रथम भाग पृ० ११६)

जो स्थिर है वह ही ब्रह्म है और यह विकासशील सत्य है चेतन-शक्ति।

अब प्रश्न यह होता है कि क्या ये दो ही मूल सत्य हैं या इनसे परे भी कुछ है ? हाँ मूल सत्य तो शुद्ध चैतन्य (Absolut) है । वह अवाङ्मनसगोचर है । स्थिरता और गतिशीलता तो उस शुद्ध चैतन्य पर मानव-मरिस्तक के आरोप हैं । हम उसे जान नहीं सकते इसलिए हमें उपरोक्त दोनों सत्यों को स्वीकार कर लेना चाहिए ।

उपरोक्त दो सत्यों—स्थिर सत्ता और चेतन शक्ति—को मान लेने पर यह प्रश्न आता है कि उन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ? तन्त्रशास्त्र में जो शिव और शक्ति का अभेद स्वीकार किया गया है उसी प्रकार श्री अरविन्द स्थिर सत्ता और चेतन शक्ति को एक मानते हैं ।

“शक्ति सत्ता से संपृक्त है । शिव और काली, ब्रह्म और शक्ति दो नहीं हैं जो अलग-अलग किए जा सकें । सत्ता से संपृक्त शक्ति शान्ति हो सकती है या गतिवान हो सकती है । किन्तु जब वह शक्ति शान्त है तब भी वह रहती है और न मिटती है, न कम होती है तथा न ही उसमें कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन आता है ।”

(वही पृ० १२५)

अब प्रश्न यह होता है कि स्थिर सत्ता से शक्ति का उदय कैसे होता है ? क्यों होता है ? तो इसके उत्तर में श्री अरविन्द कहते हैं कि यह एक शाश्वत सत्य है । ब्रह्म अनन्त उल्लास की अभिव्यक्ति शक्ति की इस सजगता और क्रीड़ा में होती है ।

“अचल से गति का उदय एक सनातन सत्य है ।”

(वही पृ० ११६)

“संपूर्ण सृष्टि या परिवर्तन इस आत्माभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है ।”

(वही पृ० १६६)

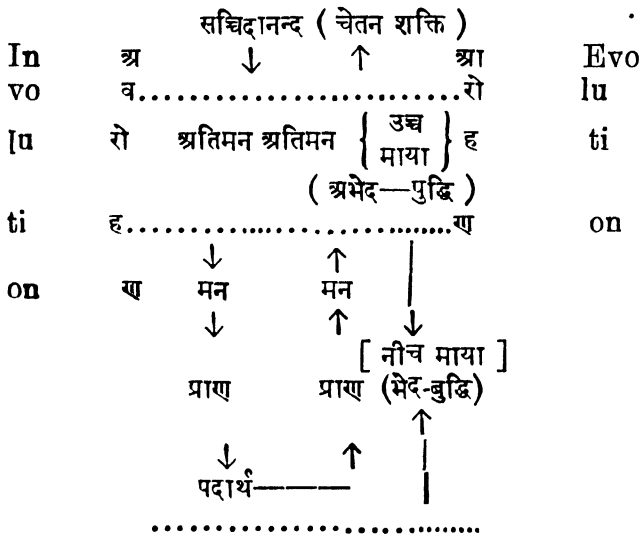
सृष्टि क्रम (विकासवाद)

मूल सत्यों को स्थिर कर लेने के पश्चात् अब यह देखना है कि सृष्टि का

क्रम क्या है ? चेतन शक्ति किस प्रकार अपने आप को अभिव्यक्त करती है ? किस विकास का क्या रूप है ?

भौतिक विकासवादी यह मानते हैं कि पदार्थ से चेतता उत्पन्न होती है। उनके अनुसार विकास की शक्ति सजग नहीं है, चेतन नहीं है, जड़ है। किन्तु श्री अरविन्द शक्ति को चेतन मानते हैं। कारण संसार में सर्वत्र हमें उपयोगिता और उपादेयता लक्षित होती है। प्रकृति का क्षुद्र से क्षुद्र अवयव भी कुछ उपयोगिता रखता है यदि विकास कामी शक्ति जड़ है, तो यह उपयोगिता कैसे सम्भव हो सकती थी ?

सच्चिदानन्द और चेतन शक्ति में अमेद है जो कुछ हमें दिखाई देता है, सभी सच्चिदानन्द की आनन्द-क्रीड़ा है। संसार रूप में सच्चिदानन्द की अभिव्यक्ति के—सृष्टि-क्रम के—दो रूप हैं। एक अबरोहण (Involution) दूसरा आरोहण (evolution)। अबरोहण की क्रिया आरोहण की क्रिया के ठीक विपरीत है। अबरोहण की दशा में सच्चिदानन्द से अतिमन का (Supermind) उदय होता है, अतिमन से मन (mind) का, मन से प्राण (life) का और प्राण से पदार्थ (matter) का। यह सभी सच्चिदानन्द की चेतन शक्ति के रूप में अभिव्यक्ति है। आरोहण की क्रिया में पदार्थ के भीतर बद्ध यह चेतना शक्ति ही उच्छ्वसित हो उठती है, प्राण को जन्म देती है, प्राण से मन को, मन से अतिमन को और अन्तिम अवस्था में अतिमन सच्चिदानन्द में लय हो जाता है। श्री अरविन्द ने सच्चिदानन्द की सूचनात्मक शक्ति को माया कहा है। माया के दो रूप हैं नीच माया तो संसार के भेदों को और विषमताओं को जन्म देती है। पदार्थ प्राण, और मन तक की अवस्थाएँ नीच माया के भीतर हैं। अतिमन में उच्चमाया का क्षेत्र है, जहाँ भेद बुद्धि और विषमताओं का नाश हो जाता है। सृष्टि-क्रम को—अबरोहण और आरोहण की क्रिया को हम इस प्रकार प्रदर्शित कर सकते हैं—



जड़ विकासवाद में विश्वास करने वालों का कहना है कि पदार्थ से चेतना उत्पन्न होती है, यह पदार्थ से महत् नहीं, उससे गौण है। किन्तु उनसे प्रश्न यह किया जाता है कि चेतना अव्यक्त रूप से पदार्थ में वर्तमान नहीं है ? उसे पदार्थ में अव्यक्त रूप से वर्तमान मान लेने से दोनों को समान महत्व प्रदान करना पड़ेगा और चेतना को पदार्थ से सर्वथा भिन्न तत्व मानना पड़ेगा किन्तु यह भौतिकवादी स्वीकार नहीं कर सकता। और यदि वह यह कहे कि चेतना अव्यक्त रूप में पदार्थ में वर्तमान नहीं है तो उसे यह मानना पड़ेगा कि चेतना के अभाव से चेतना का आविर्भाव हुआ। किसी अभाव से किसी चीज का भी जन्म होना अवैज्ञानिक है। श्री अरविन्द के विकास सिद्धान्त का मूल मन्त्र है—“जो कुछ पदार्थ में अव्यक्त रूप से विद्यमान नहीं है, वह उस से उदित नहीं हो सकता।”

(वही पृ० १३३)

पदार्थ में प्राण अव्यक्त रूप से वर्तमान है, प्राण में मन और मन में अतिमन अव्यक्त रूप से वर्तमान है।

निम्न मूल्यों से उच्च मूल्यों के आविर्भाव के मूल में वही चेतन शक्ति है।

किन्तु उच्च मूल्यों के उदय होने पर निम्न मूल्यों का तिरस्कार करना मूर्खता है। मन या अतिमन के उदय पर संसार को मिथ्या या विवर्त कह देना गलती है। सच तो यह है कि उच्च मूल्यों को निम्न मूल्यों का अपनी उन्नति के साधन के रूप में प्रयोग करना चाहिए और आज ऐसा हो भी रहा है।

मनुष्य का स्थान संसार में महत्त्वपूर्ण है क्योंकि केवल उसे ही मन की—बौद्धिक-चेतना की प्राप्ति हुई है और फिर उसी में ही अतिमन का उदय होगा। किन्तु अभाव-पीड़ा आदि का कारण है। मन का संकुचित और अविद्या ग्रस्त होना। नीच माया ही अविद्या है जिसके कारण मनुष्य अपने आपको संसार से बिल्कुल अलग एक इकाई के रूप में देखने लगता है। किन्तु अतिमन के उदय होने पर—जो उच्चमाया या विद्या का क्षेत्र है—इस भेद बुद्धि का नाश हो जाता है और मनुष्य भेद में अभेद और अभेद में भेद देखने लगता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सम्पूर्ण मानव जाति का विकास अति चेतना की ओर हो रहा है। इस नवचेतना को ही कवि पन्त स्वर्ण-किरण और स्वर्ण धूल कहता है और उसके समस्त परवर्ती काव्य में इसी नव-चेतना के सौंदर्य सुख और समृद्ध के गीत हैं। श्री अरविन्द ने लिखा है कि अतिमन के उदित हो जाने पर जीवन और संसार बदल जाएगा। अतिमन से विभूषित मानव को श्री अरविन्द ने दृष्टा (Gnostic Being) कहा है। यही पन्त का नव-मानव है। ईसाई मत के आरम्भिक काल में विद्वानों का एक ऐसा दल भी उठ खड़ा हुआ था जो श्रद्धा नहीं ज्ञान को मुक्ति का साधन मानता था और जो व्यक्ति का जन्म मूल तत्व के निरन्तर विकास का फल मानता था। इस दल के व्यक्ति को Gnostic कहा जाता था। यह दृष्टा या नव-मानस सभी प्रकार के बन्धनों और अभावों से मुक्त होगा। किन्तु अतिमन का उदय ही विकास-क्रम का अन्त नहीं है। अभी तो सच्चिदानन्द में लीन होना है। इसका साधन है ज्ञान। मनुष्यत्व ही है ईश्वरतत्व की प्राप्ति। श्री अरविन्द के शब्दों में—

“To fulfil God in life is man's manhood”

(same p. 56)

उपर्युक्त विवरण से अरविंद दर्शन के मूल सिद्धांत स्पष्ट हो जाते हैं। उत्तरा में अरविंद दर्शन को पूर्णतः ग्रहण कर लिया गया है और आगे इसे दिखाने का प्रयत्न किया जाएगा। यहाँ एक दूसरी बात पर विचार करना अनुचित न होगा। भवानीसेन ने अरविंद दर्शन का खण्डन किया है। और क्योंकि पंत ने उसे स्वीकार किया है, इसलिए वही आक्षेप पंत के विरुद्ध भी लगाए जा सकते हैं जो भवानीसेन ने अरविंद के विरुद्ध लगाए हैं।

सबसे पहला प्रश्न जो यहाँ उठता है यह है कि भवानीसेन ने अरविंद का खण्डन किस उद्देश्य से किया है? स्पष्टतः इसका उत्तर यह है कि मार्क्सवाद की स्थापना के लिए। अपने तीसरे निबंधके अन्त में एंग्लस के विचारों की सत्यता घोषित करते हुए उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि जीवन-चेतना को नियंत्रित करता है, चेतना जीवन को नियंत्रित नहीं करती। पदार्थ का सनातन विकास ही एकमात्र सत्य है। अरविंद चेतन विकासवाद को स्वीकार करता है, इसलिए वह भ्रामक है। जब किसी व्यक्ति की बुद्धि पूर्वाग्रहों से आक्रांत होती है तो चाहे वह कितनी ही प्रतिभा-सम्पन्न क्यों न हो, उसका विवेचन निष्पक्ष नहीं हो सकता। निष्पक्षता के अभाव में सम्बद्ध विवेचन भी प्रचार के अतिरिक्त और कोई मूल्य नहीं रखता। भवानीसेन ने यह देखने का प्रयास ही नहीं किया कि अरविंद के समस्त चिंतन के मूल में कौन सी आकांक्षाएँ कार्य कर रही हैं। अरविंद के चिंतन का मूल—जैसा कि ऊपर के विवेचन से स्पष्ट होगा—मनुष्य और समाज में ही हैं। अरविंद की इस आलोचना में एक और भी विचित्र बात दिखाई देती है आलोचक ने अरविन्द के तर्कों को दूषित प्रामाणित करने के लिए उन्हीं तर्कों का प्रयोग भी किया है। यदि अरविन्द के पक्ष में वे तर्क असिद्ध हैं तो भवानीसेन के पक्ष में भी तो वे तर्क असिद्ध हैं।

भवानीसेन ने जो पदार्थ, चेतना और शक्ति का खण्डन किया है, उससे यह भी स्पष्ट होता है कि उन्होंने अरविन्द की विचार धारा का आधार नहीं समझा। अरविन्द के लिए पदार्थ और चेतना में वैसा विरोध या द्वैत नहीं है जैसा भवानीसेन ने मान लिया है। कारण यह है कि अरविन्द के लिए पदार्थ और मन दोनों ही शक्ति की दो अभिव्यक्तियाँ हैं। यहाँ भवानीसेन

को अरविन्द के विकास वाद के प्रकाश में ही पदार्थ और मन की समस्या को देखना चाहिए था किन्तु उन्होंने ऐसा न करके अरविन्द-दर्शन के साथ अन्याय किया है।

एक स्थान पर उन्होंने लिखा है कि अरविन्द ने शक्ति को पदार्थ से अलग मान लिया है। उनके इस कथन से ही यह स्पष्ट होता है कि वे अरविन्द का नहीं किसी अन्य दार्शनिक मत का खण्डन कर रहे हैं। और आगे वे फिर लिखते हैं कि यदि पदार्थ में प्राण और मन अव्यक्त रूप से विद्यमान है तो, हाईड्रोजन के ऐटम में भी प्राण और मन की सत्ता होनी चाहिए और उसे भी सोचने की शक्ति से सम्पन्न होना चाहिए। इतना ही नहीं आगे वे यह भी कहते हैं कि यदि प्राणियों तथा जड़ पदार्थों में कोई भेद नहीं है तो हमें ऐटमबम्ब बनाने वालों से ही क्यों ऐटम से ही शान्ति के लिए अपील करना चाहिए। कैसा हास्यास्पद तर्क है। इस मजाक का कारण यही है कि भवानी सेन ने अरविन्द दर्शन के आधार चेतन विकासवाद के स्वरूप को ही नहीं समझा। यदि कोई भवानीसेन से ही यह प्रश्न करे कि यदि पदार्थ से ही प्राण तथा चेतना की उत्पत्ति हुई है (जैसा कि एंग्ल्स मानता है) तो प्राण और चेतना से पदार्थ की उत्पत्ति क्यों नहीं हो सकती। इस प्रश्न का वे क्या उत्तर देंगे ?

एक स्थान पर भवानी सेन ने कहा है कि यदि मन को पदार्थ में अव्यक्त रूप से मान लिया जाए—जिस प्रकार आम की गुठली में आम का वृक्ष अव्यक्त रूप से होता है—तो यह कैसे निश्चय किया जा सकता है कि पहले पदार्थ था या पहले चेतना क्योंकि यह कोई नहीं बता सकता कि पहले आम की गुठली थी या उसका वृक्ष। किन्तु ऊपर दिए हुए विकास-क्रम के चार्ट को समझ लेने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि अरविन्द के लिए यह प्रश्न उठता ही नहीं क्योंकि पदार्थ, प्राण मन आदि तो शक्ति के आरोहण-अवरोहण का परिणाम है। आगे चलकर भवानी सेन ने तारों के गिरने की बात कही है और वृक्षों पर बच्चों के उगने की बात कही है। यह तर्क भी निराधार है क्योंकि अरविन्द के दर्शन को भलीभांति न समझने के कारण ही ऐसा तर्क दिमाग में आता है।

अरविन्द ने कम्यूनिज़्म और फ्रासिज़्म को समान माना है क्योंकि दोनों में व्यक्ति की सत्ता को निरंकुशता से कुचल दिया जाता है और दोनों का शासन जड़ और यांत्रिक होता है। अरविन्द ने यह माना है कि कम्यूनिज़्म बुद्धि के हास का परिचायक है। साम्यवाद के पुजारियों पर यह गहरी चोट है। ऐसा केवल अरविन्द ही नहीं वे चिन्तक भी कहते हैं जो रूस तथा चीन में वर्षों रहकर आए हैं। भूतपूर्व राजदूत सर्दार पनिकर ने भी चीन की प्रगति की प्रशंसा करते हुए भी यही कहा है कि वहाँ व्यक्ति को वह स्वतंत्रता प्राप्त नहीं है जो उसे होनी चाहिए।

अरविन्द ने शंकर के मायावाद का खण्डन किया है। किन्तु भवानी सेन ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि ऐसा करके भी अरविन्द को मायावाद स्वीकार करना ही पड़ा। इसलिए उनकी दृष्टि में अरविन्द सारंख्य और वेदान्त के बीच में खेल की चिड़िया के समान नाचता है, और यथार्थवाद (realism) से मायावाद के बीच मेंढक के समान कूदता है। अब यह देखना चाहिए कि अरविन्द के किस कथन के आधार पर उन्होंने यह बात कही है। अरविन्द ने मनुष्य की चेतना को स्थूल चेतना कहा है और संसार को ब्रह्म का अवगुठन कहा है। किन्तु इस कथन के आधार पर यह कहना कि अरविन्द ने संसार को मिथ्या माना है, बिल्कुल गलत है। इस कथन को ठीक से समझने के लिए अरविन्द के चेतन विकासवाद का पूर्ण परिचय आवश्यक है। मनुष्य की वर्तमान चेतना से आगे का स्तर है ऊर्ध्व चेतना या अतिमन और संसार चेतन शक्ति की अभिव्यक्ति है। अरविन्द के उपर्युक्त कथन का यही अर्थ है। और इस अर्थ में संसार का मिथ्यात्व कहीं भी नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अरविन्द के दर्शन के विरुद्ध जो आक्षेप भवानी सेन ने लगाए हैं, उनका आधार ही गलत है।

अब पन्त के चिन्तन के विकास से सम्बन्धित एक दूसरा महत्वपूर्ण प्रश्न सामने आता है। आलोचकों ने पन्त के व्यक्तित्व के विकास में अन्तर्विरोध दिखाने की चेष्टा की है। उनके अनुसार युगवाणी की विचारधारा और 'स्वर्णकिरण' तथा परवर्ती विचारधारा में विरोध है। किसी भी कलाकार की

रचनाओं में विरोध का होना दोष है। क्या पन्त में यह दोष पाया जाता है ? जब 'युगवाणी' और स्वर्णकिरण दोनों ही पन्त के बौद्धिक विकास की परिपक्व अवस्था की देन हैं। पहले तो इस बात पर विचार करना चाहिए कि अन्त-विरोध क्यों दोष माना जाता है ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जिस व्यक्ति की प्रतिभा शक्तिमयी तथा अन्तर्भेदिनी होगी वह किसी भी समस्या का सही समाधान ढूँढ़ लेगा। यदि आज कोई कलाकार जीवन की समस्याओं का एक हल ढूँढ़ता है और कल दूसरा तो यही कहा जाएगा कि उसमें इतनी बौद्धिक सन्नमता नहीं है कि वह किसी भी समस्या का सही हल ढूँढ़ सके। यदि कल का हल उसे आज असिद्ध प्रतीत होता है तो हो सकता है कि आज का हल उसे कल असिद्ध प्रतीत हो और वह कोई नया हल प्रस्तुत करे। उसके व्यक्तित्व की यह दुर्बलता उसे विश्वसनीय नहीं बनने देगी। किन्तु एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। यदि दृष्टिकोण के इस परिवर्तन के मूल में कोई समर्थ कारण है तो आलोचक को उसपर सहानुभूति-पूर्वक विचार करना होगा। अब देखना यह है कि क्या पन्त में विरोध का दोष है भी या नहीं।

उत्तरा की भूमिका में स्वयं पन्त ने इस बात को उठाया है। उसने लिखा है—

“मेरी इधर की रचनाओं का मुख्य ध्येय केवल उस युग-चेतना को, अपने यत्किंचित प्रयत्नों द्वारा, वाणी देने का रहा है जो हमारे संक्रांतिकाल की देन है और जिसने एक युगजीवी की तरह, मुझे भी अपने क्षेत्र में प्रभावित किया है। इस प्रकार के प्रयत्न मेरी कृतियों में 'ज्योत्स्ना' काल से प्रारम्भ हो गए थे ; ज्योत्स्ना की स्वप्न-कांत चाँदनी (चेतना) ही एक प्रकार से 'स्वर्णकिरण' में युग-प्रभात के आलोक से स्वर्णित हो गई है।

‘वह स्वर्ण भोर को ठहरी जग के ज्योतित आंगन पर,

तापसी विश्व की बाला, पाने नव जीवन का वर।

चाँदनी को सम्बोधित 'ज्योत्स्ना', 'गुंजन' काल की इन पंक्तियों में पाठकों को मेरे उपर्युक्त कथन की प्रतिध्वनि मिलेगी। मुझे विश्वास है कि 'ज्योत्स्ना' के बाद की मेरी रचनाओं को तलनात्मक दृष्टि से पढ़ने पर पाठक

स्वयं भी इसी परिणाम पर पहुँचेंगे। बाहरी दृष्टि से उन्हें 'युगवाणी' तथा 'स्वर्ण किरण' काल की रचनाओं में शायद परस्पर विरोधी विचार-धाराओं का समावेश मिले, पर वास्तव में ऐसा नहीं है।”

पृ० १

यहाँ कवि ने स्वयं इस बात की स्पष्ट घोषणा की है कि 'ज्योत्स्ना' के पश्चात् उसका प्रधान उद्देश्य रहा है नवीन चेतना के स्वरूप का स्पष्टीकरण। समाज का इतिहास हमें यह बताता है कि जब-जब “जीवनोपाय के साधन बदले,” तो नवीन युगों का आगमन होता आया है। आज के युग में उत्पादन का साधन यंत्र है। नवीन युग का आना स्वाभाविक एवं अनिवार्य है। सारा विश्व आज के आतंकपूर्ण बातावरण से विरक्त हो उठा है। वह नवीन, शांत और सरस संसार की कल्पना कर रहा है। संसार के सारे देश इस दिशा में अपनी-अपनी सीमाओं के भीतर प्रयत्नशील हैं। आज का युग संक्रांतिकाल है। पूँजीवादी व्यवस्था का अन्त हो रहा है और नवीन युग का आगमन हो रहा है। आज के युग में दोनों प्रकार की शक्तियाँ लक्षित होती हैं। विकास गामी रुचि के व्यक्ति नवीन समाज के निर्माण का प्रयत्न कर रहे हैं। उधर पूँजीवादी प्रथाओं के समर्थक अपने प्राचीन रीति-रिवाजों को दृढ़ बनाने में प्रयत्नशील हैं। फलस्वरूप आज का वातावरण क्षोभ और संघर्ष से भरा हुआ है। विरोधी शक्तियों के इस संघर्ष में विकास कामी शक्तियों की विजय अवश्यम्भावी है। रूढ़ि प्रस्त शक्तियों में अब सार नहीं है, वे खोखली हो चुकी हैं। जिस प्रकार सारा संसार नवीन युग के सपने देख रहा है जिसमें मनुष्य प्रेम से रह सकेगा और वर्ग धर्म के विरोध शांत हो जायँगे, उसी प्रकार पंत ने भी नवीन युग के सपने देखे हैं। 'ज्योत्स्ना' में पंत ने एक ऐसे संसार की कल्पना की है जिसमें मानव समाज की सभी विषमताएँ विलीन हो चुकी हैं और जीवन प्रतिबन्धों से मुक्त हो उठा है। 'ज्योत्स्ना' के पश्चात् की कविता में भी यही बात स्पष्ट है। पंत ने स्वयं इस बात को स्पष्ट करने का प्रयास किया है—

“ 'ज्योत्स्ना' में मैंने जीवन की जिन बहिरंतर मान्यताओं का समन्वय करने का प्रयत्न तथा नवीन सामाजिकता (मानवता) में उनके रूपांतरित होने की ओर इङ्गित किया है 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में उन्हीं के बहिर्मुखी

(समतल) संचरण को (जो मार्क्सवाद का क्षेत्र है) अधिक प्रधानता दी है; किन्तु समन्वय तथा संश्लेषण का दृष्टिकोण एवं तज्जनित मान्यताएँ दोनों में समान रूप से वर्तमान हैं और दोनों कालों की रचनाओं से, इस प्रकार के अनेकों उद्धरण दिए जा सकते हैं। 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्या' में यदि ऊर्ध्व मानों का सम धरातल पर समन्वय हुआ है तो 'स्वर्ण किरण', 'स्वर्ण धूलि' में समतल मानों का ऊर्ध्व धरातल पर; जो तत्त्वतः एक ही लक्ष्य की ओर निर्देश करते हैं। किन्तु किसी लेखक की कृतियों में विचार-साम्य के बदले उसके मानसिक विकास की दिशा को ही अधिक महत्व देना चाहिए, क्योंकि लेखक एक सजीव अस्तित्व या चेतना है और वह भिन्न-भिन्न समय पर अपने युग के स्वशों तथा संवेदनों से किस प्रकार आंदोलित होता है, उन्हें किस रूप में ग्रहण तथा प्रदान करता है, इसका निर्णय ही उसके व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने में अधिक उपयोगी सिद्ध होना चाहिए।" वही—पृ० २

अन्तिम पंक्ति में कवि ने विकास के सत्य को स्वीकार किया है। कलाकार युग-सचेष्ट होता है और अपने युग की बदलती धाराओं और नवीन चिंतनों से प्रभावित होता भी है तथा उन्हें प्रभावित करता भी है। विकास के इस सत्य की स्वीकृति का यह अभिप्राय कतई नहीं लेना चाहिए कि पंत अपने अन्तर्विरोध को स्वीकार करता है। कवि के मूल विश्वासों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है और अभी हम देखेंगे कि युगवाणी और उत्तरा के दर्शन में कोई विरोध नहीं है। युगवाणी के भीतर अवश्य अन्तर्विरोध की छाया देखी जा सकती है जिसका कारण कवि के चिंतन का असंतुलन है।

उपर्युक्त उद्धरण में कवि ने अन्तर्मुखी, बहिर्मुखी तथा ऊर्ध्वतल और समतल आदि शब्दों का प्रयोग किया है। इनका अर्थ समझ लेना चाहिए। अन्तर्मुखी से अभिप्राय है अध्यात्म चेतना जिसके प्रसरण का क्षेत्र मन, बुद्धि आत्मा और परमात्मा है। मनोविज्ञान, नीतिशास्त्र, तत्त्व दर्शन, धर्म आदि में अन्तर्मुखी चेतना का प्रतिफलन होता है। यही मानव जीवन का ऊर्ध्वतल भी है। बहिर्मुखी चेतना का संबंध मनुष्य की भौतिक, आर्थिक आवश्यकताओं से है। भूत-विज्ञान, रसायन-विज्ञान आदि में बहिर्मुखी चेतना का प्रतिफलन होता है। यही जीवन का समतल भी है। जीवन के समतल रूप में मनुष्य की

वे आवश्यकताएँ आती हैं जो जीवन की मूलभूत आवश्यकताएँ हैं किंतु जीवन का ऊर्ध्वतल मनुष्य को सामान्य जीवन से ऊपर उठाकर जीवन के गूढ़ रहस्यों को प्रकाशित करने की प्रेरणा देता है।

यह पहले कहा जा चुका है कि पन्त जीवन की बहिर्तिर क्रान्ति का पक्ष-पाती है। जीवन की भौतिक आर्थिक परिस्थितियों में भी परिवर्तन की आवश्यकता है और उसके साँस्कृतिक आन्तरिक जीवन में भी क्रान्ति की अपेक्षा है। वर्तमानकालीन समाज में न तो उसका बाह्य जीवन सरस है और न ही उसका मानसिक जीवन कमनीय। मनुष्य को नवीन आदर्शों की आवश्यकता है। नवीन युग में मनुष्य का बाह्य जीवन भी रस पूर्ण होगा और आन्तरिक जीवन भी सुखमय होगा। सक्रांति काल ही नवीन युग को जन्म देगा। नवीन संस्कृति के कवि को जीवन के दोनों तलों को स्पर्श करना होगा—समतल को भी और ऊर्ध्वतल को भी। 'युगवाणी' और 'ग्राम्य' में कवि का ध्यान जीवन की बाह्य क्रान्ति की ओर ही अधिक रहा। इसका विस्तृत उद्घाटन करना प्रस्तुत पुस्तक की सीमा के बाहर है। जीवन की बाह्य क्रान्ति, समाज की सम्पूर्ण क्रान्ति का एक रूप है। अब प्रश्न यह होता है कि पंत ने जीवन की बाह्य क्रान्ति को किस रूप में देखा तथा प्रदर्शित किया है? समाज के बाह्य रूप की समीक्षा की ओर मार्क्स प्रवृत्त हुआ। उसने समाज के इतिहास के द्वारा जीवन की बाह्य चेतना के विकास और परिवर्तन की रूप रेखा प्रस्तुत की है। फलस्वरूप 'युगवाणी' तथा 'ग्राम्य' में कवि का चिन्तन मार्क्सवाद से विशेष रूप से प्रभावित लक्षित होता है। किन्तु क्या युगवाणी में पंत ने जीवन के साँस्कृतिक पक्ष को—ऊर्ध्वतल को—अस्वीकृत किया है? यदि वह ऐसा करता तो अवश्य कहा जा सकता था कि स्वर्णकिरण में आकर उसने एक बिल्कुल नई दृष्टि अपनाई है। युगवाणी में भी उसने जीवन के ऊर्ध्वतल की ओर पूरा-पूरा ध्यान दिया है। स्थान-स्थान पर उसने कहा है कि केवल बाह्य क्रान्ति ही अभीप्सित नहीं है। इसके लिए हृदय की क्रान्ति की भी आवश्यकता है। मानसिक जगत के विकास और जागरण के अभाव में बाह्य साम्य-एक बन्धन ही सिद्ध होगा। उत्तरा की भूमिका में स्थान स्थान पर उसने अपने इस विश्वास की घोषणा भी की है—

“मेरा दृढ़ विश्वास है कि केवल राजनीतिक आर्थिक हलचलों की बाह्य सकलताओं द्वारा ही मानव जाति के भाग्य (भावी) का निर्माण नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के सभी आन्दोलनों को परिपूर्णता प्रदान करने के लिए, संसार में एक व्यापक सांस्कृतिक आन्दोलन को जन्म लेना होगा जो मानव चेतना के राजनीतिक-आर्थिक मानसिक तथा आध्यात्मिक—संपूर्ण धरातलों में मानवीय संतुलन तथा सामंजस्य स्थापित कर आज के जनवाद को विकसित मानववाद का स्वरूप दे सकेगा; भविष्य में मनुष्य के आध्यात्मिक (इस युग की दृष्टि से बौद्धिक, नैतिक) तथा राजनीतिक संचरण—प्रचलित शब्दों में धर्म, अर्थ, काम अधिक समन्वित हो जायेंगे और उनके बीच का व्यवधान मिट जायगा—अथवा राजनीतिक आन्दोलन सांस्कृतिक आंदोलन में बदल जायेंगे, जिसका पूर्वाभास हमें, इस युग की सीमाओं के भीतर, महात्मा जी के व्यक्तित्व में मिलता है।”

पृ० ३

मानव-चेतना का राजनीतिक आर्थिक धरातल जीवन का समतल है और उसका मानसिक तथा आध्यात्मिक धरातल जीवन का ऊर्ध्वतल है। पंत ने इन दोनों के समन्वय की बात की है। युगवाणी में कवि की दृष्टि जीवन के समतल धरातल की क्रान्ति की ओर अधिक रहा। किंतु उसने जीवन के ऊर्ध्वतल पर भी पूरा-पूरा बल दिया। यह सत्य है कि युगवाणी में जीवन के ऊर्ध्वतल की अपेक्षा जीवन के समतल का रूप अधिक सशक्त और निखरा हुआ है। इसीलिए पंत ने यह कहा है कि ‘युगवाणी’ ‘ग्राम्या’ में जीवन के ऊर्ध्व मानों का समधरातल पर समन्वय हुआ है। ‘चींटी’ कविता में कवि जीवन की बाह्य क्रान्ति की बात कहता है शिंतु साथ ही यह भी घोषणा करता है—

“मानव को आदर्श चाहिए।

संस्कृति, आत्मोत्कर्ष चाहिए;

बाह्य विधान उसे है बन्धन

यदि न साम्य उसमें अन्तराम—”

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित उद्धरणों से भी उपर्युक्त समन्वय के रूप को देखा जा सकता है। ‘युगवाणी’ में कहीं पंत ने कहा है—

“बापू तुम से सुन आत्मा का तेज राशि आह्वान,
हंस उठते है रोम हर्ष से, पुलकित होते प्राण ।”

अथवा

“अन्तर्मुख अद्वैत पड़ा था युग-युग से निस्पृह निष्प्राण,
उसे प्रतिष्ठित करने जग में दिया साम्य ने वस्तु विधान ।”
“आओ हे दुर्घर्ष वर्ष ! लाओ विनाश के साथ नव सृजन,
विंश शताब्दी का महान विज्ञान ज्ञान ले, उत्तर योवन ।”

—१९४० ग्राम्या

यह तो हुआ ऊर्ध्व मानों का सम घरातल पर समन्य,
स्वर्णकिरण, उत्तरा आदि में समतल मानों का ऊर्ध्व ।

घरातल पर समन्वय किया है । यहाँ जीवन के ऊर्ध्वतल के उत्कर्ष का प्राधान्य है । वह ऐसी मनुष्यता का स्वप्न देखता है जिसमें साँस्कृतिक उत्कर्ष के साथ-साथ विज्ञान की भी पूर्ण उन्नति होगी । उत्तरा में स्थान-स्थानपर इस समन्वय की अभिव्यक्ति हुई है । ‘युग संघर्ष’ कविता की ये पंक्तियाँ उदाहरण स्वरूप ली जा सकती है जिसमें कवि ने नवीन मानवता का स्वरूप चित्रित किया है—

“रक्त पूत अब धारा-शांत संघर्षण,
धनिक श्रमिक भृतः तर्कवाद निश्चेतन !
सौम्य शिष्ट मानवता अन्तर्लोचन,
सृजन-मौन करती धरती पर विवरण !

उज्ज्वल मस्तक पर मुक्ता-से श्रमकण,
शांत धीर मन से करती वह चिन्तन ।
भूजीवन निर्माण निरत, नव चेतन,
साधारण रे वास वसन, मित भोजन !
विद्युत् अणु उसके सन्मुख अब नतफन,
वसुधा पर नव स्वर्ग सृजन के साधन !
आज चेतना का गत वृत्त समपान,
नूतन का अभिवादन करता युगमन !”—५०६

पन्त द्वारा प्रयुक्त समतल और ऊर्ध्वतल के समन्वय की महत्ता तभी प्रकट होगी जब इसे वैज्ञानिक रूप में समझा जाएगा। आत्मवाद में जीवन के ऊर्ध्वतल पर बल दिया जाता है और वस्तुवाद में जीवन के समतल पर। “आत्मवाद और वस्तुवाद विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। अध्यात्मवादी आदर्शवादी होता है, व्यक्ति पर विश्वास करता है और अन्तर्जगत पर अधिक बल देता है। वस्तुवादी यथार्थवादी होता है, समाज पर विश्वास रखता है और बहिर्जगत पर अधिक बल देता है। पन्त ने आदर्श और यथार्थ का, व्यक्ति और समाज का, अन्तर्जगत और बहिर्जगत का भी सामंजस्य किया है। अध्यात्मवादी की साधना ज्ञानके रूप में प्रकट होती है, वह मानव जीवन का ऊर्ध्वतल है और पूर्व की निजी संपत्ति है। वस्तुवादी, की साधना विज्ञान के रूप में प्रकट होती है, वह मानव जीवन का समतल है, और पश्चिम की निजी संपत्ति है। पन्त ने ज्ञान और विज्ञान का, ऊर्ध्वतल और समतल का, पूर्व और पश्चिम का समन्वय करने का उपक्रम किया है। पन्त की विशद सामंजस्य भावना तुलसी से अधिक विराट है। पूर्व और पश्चिम का समन्वय आज के विज्ञान के युग में ही संभव है। तुलसी के युग में तो उसका स्वप्न भी नहीं था।”

(सुमित्रानन्दन पन्त पृ० ८६)

जो लोग पन्त में अन्तर्विरोध दिखाते हैं वे पन्त के इस कथन से कभी भी सहमत नहीं होंगे कि उसने युगवाणी में ऊर्ध्वमानों का सम धरातल पर समन्वय किया है और स्वर्ण-किरण में सममानों का ऊर्ध्व धरातल पर। उनकी दृष्टि में पन्त में कहीं भी इस प्रकार का समन्वय नहीं मिलता। वे यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि युगवाणी में ऊर्ध्वमानों (आत्मिक-मानसिक मानों) का पूर्ण अभाव है तथा स्वर्ण किरण में सममानों (आर्थिक-राजनैतिक मानों) की पूर्ण उपेक्षा की गई है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्त में ऊर्ध्व तथा सममानों के समन्वय के रूप के साथ उसका तथाकथित अन्तर्विरोध का दोष घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है। यदि समन्वय स्वीकार किया जाए तो दोष का अभाव मानना पड़ेगा और यदि यह दोष हटपूर्वक दिखाना ही हो, तो समन्वय को अस्वीकार करना होगा। पन्त में अन्तर्विरोध से अभिप्राय होगा

उसके ग्राम्यातक के विश्वासों और अरविन्द के सिद्धांतों में विरोध । अंतर्विरोध की समस्या को इस रूप में प्रस्तुत करने पर ऊर्ध्व तथा सममानों के उपयुक्त द्विविध समन्वय की बात भी स्पष्ट हो जाएगी और अन्तर्विरोध की समस्या भी हल हो जाएगी । जो लोग यह कहते हैं कि उत्तरा में आकर पंत पूर्णतः अरविन्द वादी होगया है, इस कथन की भी परीक्षा होगी । अब यह देखेंगे कि पंत के पूर्व विश्वासों (ग्राम्या तक) और नवीन जीवन दर्शन या अरविन्द दर्शन में क्या समानताएँ या भिन्नताएँ हैं ।

अरविन्द ने मानव जीवन के दोनों पक्षों— बाह्य तथा आन्तरिक का महत्व समझा । किंतु अधिकांश अन्य सिद्धांत तथा दार्शनिक एक दूसरे से विरोध मानते थे । फलस्वरूप उनका दर्शन एकांगी एवं अनुपयोगी सिद्ध होता था । अतः अरविन्द ने एक ऐसे दर्शन को जन्म देने का उपक्रम किया, जिसमें जीवन के ऊर्ध्व तथा सममूल्यों का सामंजस्य हो, जिसमें भौतिकता तथा आध्यात्मिकता में विरोध नहीं सामंजस्य हो । अरविन्द ने विकासवाद और उपनिषद् ज्ञान के सामंजस्य के द्वारा—चेतनशक्ति के आरोहण-अवरोहण के द्वारा पदार्थ और चेतना में सामंजस्य सिद्ध किया । क्या पंत के पूर्व विश्वासों में भी इसी प्रकार के समन्वय का प्रयास नहीं है ? ऊपर यह सिद्ध किया जा चुका है कि युगवाणी और ग्राम्या दोनों में ही कविने बाह्य और आन्तरिक मूल्यों के महत्व को स्वीकार किया है । केवल 'चाम संवार कर' नये समाज का निर्माण करने वाले संकीर्ण भौतिकवादियों को उसने फटकारा है ।

अरविन्द के दर्शन का प्रधान स्तम्भ है चेतन विकासवाद । चेतन शक्ति की क्रमिक अभिव्यक्ति के रूप में संसार और समाज का निर्माण हुआ है । यह ऊपर विकासवाद या सृष्टिक्रम में स्पष्ट किया गया है । क्या पंत अपने पूर्व विश्वासों में विकासवाद का समर्थक नहीं था ? पंत ने मार्क्स के ऐतिहासिक भौतिक वाद को स्वीकार किया था । ऐतिहासिक भौतिकवाद यह बताता है कि मनुष्य का समाज आरंभ से ही विकासशील रहा है और उसमें समय-समय पर युगानुरूप नवीन आध्यात्मिक मूल्यों का सृजन होता रहा है । किंतु यह आध्यात्मिक मूल्य अपने युग की भौतिक परिस्थितियों द्वारा नियंत्रित और शासित थे । किंतु अरविन्द के चेतन विकासवाद और मार्क्स के ऐतिहा-

सिक भौतिकवाद में आकाश-पाताल का अन्तर है क्योंकि अरविन्द और मार्क्स दोनों के मूल भूत विश्वास ही एक दूसरे के ठीक विपरीत हैं। अरविन्द के अनुसार चेतन शक्ति जब पदार्थ में अभिव्यक्त होती है, तो चेतना उसमें अव्यक्त रूप से विद्यमान रहती है, जो आगे चलकर प्राण, मन तथा अतिमन के रूप में प्रकट होती है। किंतु मार्क्स ने चेतना को पदार्थ में अव्यक्त रूप से विद्यमान नहीं माना। पदार्थ ही चेतना को जन्म देता है और वही सृष्टि के सारे विकास क्रम का आधार है। अतः ऐतिहासिक भौतिकवाद आध्यात्मिक चेतना को उत्पादन के साधनों के आधीन रखकर देखता है और अरविन्द सामाजिक जीवन को सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति मानता है। अतः यह स्पष्ट है कि पंत के पूर्व-विश्वासों के ऐतिहासिक भौतिकवाद तथा अरविन्द के चेतन विकासवाद में अन्तर है। किंतु एक बात स्पष्ट है। और वह यह कि पंत विकासवाद में विश्वास रखता है। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि ऐतिहासिक भौतिकवाद की अपेक्षा चेतन विकासवाद पंत के पूर्व विश्वासों के अधिक अनुकूल और निकट है। इसीलिए पंत ने यह कहा है कि डिवार्डन लार्सफ से उसकी अनेक शंकाओं का निवारण हुआ।

अरविन्द ने अपने विकास-सिद्धांत के भीतर यह सिद्ध किया है कि वर्तमानव की चेतना जीवन और जगत को विच्छिन्न करके देखती है जिसके फल-स्वरूप विरोधी मतों का उदय होता है। किंतु चेतना के विकास में एक अवस्था वह भी आएगी जब मनुष्य की वर्तमान चेतना का उन्नयन होगा और उसमें ऊर्ध्वचेतना का प्रसार होगा। यह चेतना जीवन और जगत् को संपृक्त समग्र रूप में देखेगी और एकसमरस नवीन मानव संस्कृति का अविर्भाव होगा। पंत के पूर्व विश्वासों में भी नवीन संस्कृति का मोह प्रकट हुआ है। बहुत पहले ही उसने “ज्योतिर्मय जीवन को जग के उर्वर आंगन में बरसने के लिये कहा था। उस नवीन जीवन में ज्ञान और विज्ञान का समन्वय होगा। यह बात अरविन्द ने भी कही है और पंत ने भी। पंत ने १९४० को विनाश के साथ सृजन लाने के लिये भी कहा और ‘विंश शताब्दी के महान ज्ञान और विज्ञान’ को भी लाने के लिये कहा। इस दृष्टि से भी अरविन्द और पंत दोनों ही नवीन संस्कृति के दूत के रूप में सामने आते हैं। पंत ‘ज्योत्स्ना’ में ही अपनी

नवीन साँस्कृति के रूप को अभिव्यक्ति दे चुका था। अरविन्द ने उसका तार्किक आधार भी स्पष्ट किया।

अरविन्द ने तर्क की एक सीमा मानी है जिसके आगे वह अनुपयोगी हो जाता है। तर्क मनुष्य के लिए उपयोगी अवश्य है, किन्तु जीवन के सभी मानों और मूल्यों को एक तर्क की कसौटी पर ही नहीं कसा जा सकता। अरविन्द ने तर्क का एक उत्कृष्ट रूप स्वीकार किया है जो नवीन मानव का एक सशक्त अस्त्र होगा। पन्त के पूर्व विश्वासों में यद्यपि यह बात स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त नहीं हुई किन्तु फिर भी उसने अपने सिद्धान्तों के निर्णय में सभी तर्कवादों की सीमाएँ दिखलाई हैं और उनके शुभ पक्षों को ग्रहण किया। अरविन्द शिव और शक्ति पर विश्वास रखता है और सच्चिदानन्द को स्वीकार करता है। 'प्रार्थना' आदि आरंभिक गीतों में कवि भगवान से प्रार्थना करता लक्षित होता है।

आधुनिक युग के चिन्तकों के लिए एक अन्य जटिल समस्या है समाज तथा व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्ध की। क्या समाज व्यक्ति का निर्माण करता है? क्या व्यक्ति समाज का निर्माण करता है?—इस प्रकार के प्रश्न प्रायः उठाए जाते हैं। मार्क्स यह विश्वास करता था कि व्यक्ति के व्यक्तित्व, का निर्माण समाज ही करता है और मानव जाति के विकास में समाज की रूप-रेखा तथा विधि-विधान का प्रभाव व्यक्ति पर पड़ता लक्षित होता है। किंतु आदर्शवादियों का यह विश्वास है कि व्यक्ति का चिन्तन और उसकी मानसिक शक्तियाँ समाज को रूप प्रदान करती हैं। क्या कहीं इन दोनों विश्वासों में सामरस्य स्थापित हो सकता है? अरविन्द ने व्यक्ति और समाज के इस विरोध की समस्या पर विचार किया है। उन्होंने The Synthesis of Yoga में लिखा है कि किन्हीं विरोधी दृष्टिकोणों का समझौता कर देना समस्या का सही हल नहीं है। इस प्रकार के समझौते के प्रयत्नों द्वारा तो कठिनाई पर पर्दा पड़ जाता है और अन्त में समस्या और भी जटिल हो जाती है। इसलिए हमें एक ऐसे सिद्धान्त को स्वीकार करना चाहिए जो इन दोनों के विरोध को उखाड़ फेंकने वाला हो। हमें स्वार्थ भावना के पोषण

करने वाले व्यक्तिवाद और केवल समाज के कल्याण को लेकर चलने वाले साम्यवाद, दोनों से ही अधिक उदात्त आदर्श को स्वीकार करना चाहिए जो आवश्यकता और इच्छा की पूर्ति नहीं करता वरन् उन्हें नियंत्रित कर एक ऐसी वाञ्छित व्यवस्था को जन्म देता है जो पार्श्विक और भौतिक नहीं वरन् मानसिक है तथा जो मनुष्य की बौद्धिक एवं आत्मिक शक्ति को विकसित करने में समर्थ है। पन्त के पूर्व विश्वासों को ध्यान पूर्वक देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि न तो उसने समाज की महत्ता के समक्ष व्यक्ति को अस्वीकार किया है और न ही उन्होंने व्यक्ति की महिमा के जाल में उलझकर समाज की ओर से आँखें बन्द की हैं। केवल बाह्य सामाजिक साम्य से ही कुछ न होगा, वरन् मनुष्यों में हृदय का सौन्दर्य होना चाहिए। जब कवि मानसिक उत्कर्ष को स्वीकार करता है, वह स्पष्टतः व्यक्ति की सत्ता को भी स्वीकार कर लेता है। किन्तु युगवाणी आदि में पन्त के सामने व्यक्ति तथा समाज के विरोध की समस्या का कोई निर्दिष्ट हल नहीं था। यह उसे अरविन्द में ही प्राप्त हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि पन्त के पूर्व विश्वासों और अरविन्द के दर्शन में पर्याप्त समानता है। पन्त द्वारा अरविन्द दर्शन की स्वीकृति उसके चिन्तन के विकास की एक सहज स्वाभाविक घटना है। इस स्वीकृति में पन्त को अपने प्राचीन विश्वासों को त्यागना नहीं पड़ा। हाँ उनमें थोड़ा-बहुत विकास अवश्य करना पड़ा—जैसे विकासवाद के सिद्धान्त में। इसके साथ ही साथ अरविन्द के दर्शन में ही पन्त को अपने विश्वासों का तार्किक आधार प्राप्त हुआ। जब हम किसी चिन्तन या सिद्धान्त द्वारा किसी दूसरे चिन्तक या कलाकार के प्रभावित होने की बात कहते हैं, तो इसमें प्रायः यह स्वतः सिद्ध सा ही है दोनों की चिन्ताओं आकांक्षाओं में अवश्य समानता होती है। किन्तु अधिक गम्भीर चिन्तकों से प्रभावित होने पर, प्रभाव-ग्रहण करने वाले व्यक्ति के विश्वासों में अधिक संतुलन एवं परिष्कार आता है। किन्तु, इससे यह नहीं कहा जा सकता कि इस व्यक्ति के चिन्तन में अन्तर्विरोध पाया जाता है। हाँ यह बात अवश्य मान्य है कि जब कोई चिन्तन किसी विरोधी चिन्तक द्वारा प्रभावित होता है, तो उसमें जो परिवर्तन होता है, वह अवश्य उसके चिन्तन के विकास में अन्तर्विरोध कहलाएगा।

और फिर यह बात भी ध्यान में रखना चाहिए कि अन्तर्विरोध का होना एक बात है, और उसका दोष होना दूसरी बात । विकासशील या निर्माणशील व्यक्तित्व में विरोधी दर्शन की स्वीकृति दोष नहीं होगी । किन्तु जिस व्यक्ति के चिन्तन का रूप स्थिर सा हो चुका है, उसमें किसी विरोधी विश्वास का प्रवेश अवश्य दोष कहलाएगा । उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि पन्त के चिन्तन के विकास में प्रधानतः समरसता पाई जाती है और उसने युगवाणी आदि में जिस समन्वय का प्रयत्न किया था, वही प्रयत्न उसने स्वर्णकिरण उत्तरा आदि में किया । अन्तर केवल दृष्टि का है । युगवाणी में उसने ऊर्ध्व मानों का जीवन के समतल पर रखकर मूल्यांकन किया है और उत्तरा आदि में उसने जीवन के सम मानों को ऊर्ध्वतल पर मूल्यांकन किया है ।

अब एक प्रश्न सामने आता है कि पंत ने भारत के प्राचीन ज्ञान के गौरवान्वित क्षेत्र को अपने जीवन दर्शन का आधार क्यों नहीं बनाया ? उसने अरविंद को ही क्यों स्वीकार किया ? यदि हम कहें कि अरविंद में जड़ और चेतन का समन्वय किया है, तो यह बात रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद में भी पाई जाती है ? इस प्रश्न के विवेचन के द्वारा पंत के दृष्टिकोण को समझने में विशेष सहायता होगी ।

इस प्रश्न का प्रथम उत्तर तो यह है कि प्राचीन कालीन भारत और आज के युग में बहुत भेद है । विज्ञान के आविष्कारों ने आज के जगत को एक कुटुम्ब के रूप में प्रस्तुत कर दिया है । मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी आज के संसार ने विशेष प्रगति की है । आज के चिंतक के सामने किसी एक राज्य या देश का नहीं, सारे संसार का प्रश्न है । इसलिए आज के युग में प्राचीन अध्यात्म दर्शन पूर्ण रूप से उपयोगी नहीं हो सकता । आज एक ऐसे दर्शन की आवश्यकता है जो मनुष्य के समग्र जीवन को उन्नत तथा परिष्कृत करने में समर्थ हो । आज के युग में विकासवाद को किसी न किसी रूप में स्वीकार कर लिया गया है । यह विकास चाहे बंदर जैसे पशुओं से आदिम मनुष्य का विकास न हो, मानव जाति के इतिहास के भीतर का विकास तो है ही । अरविंद के दर्शन में आज के युग की इन सभी आकांक्षाओं को यथोचित

स्थान मिला है यह हम ऊपर देख आए हैं। 'युगवाणी' की भूमिका में पंत ने स्वयं लिखा है—

“मध्ययुग आत्म-दर्शन या आत्मवाद का सक्रिय संगठित एवं सामूहिक प्रयोग नहीं कर सका। तब भौतिक विज्ञान इतना समुन्नत नहीं था; वाष्प, विद्युत्, रश्मि आदि मानव-जीवन के वाहन नहीं बन सके थे। जीवन की बाह्य परिस्थितियाँ एक सीमा तक विकसित होने के बाद निष्क्रिय और जड़ हो गई थी। मध्य युगीन विचारकों, संतों एवं साधुओं के लिये यह स्वाभाविक ही था कि वे विश्व संचरण के प्रति निरीह होकर (मायावाद, मिथ्यावाद आदि जिसके दुष्परिणाम हैं) व्यक्ति से सीधे परात्पर की ओर चले जाएँ। उनके नैतिक उन्नयन के प्रयत्न भागीरथ प्रयत्न कहे जा सकते हैं पर वे राम-प्रयत्न या कृष्ण-प्रयत्न (जिन्हें राम कृष्ण अवतरण कहना उचित होगा) नहीं थे, जिनके द्वारा विश्व संचरण में भी प्रकारांतर या युगांतर उपस्थित हो सकता और और जिनकी विकसित चेतना विश्व जीवन के रूप में संगठित एवं प्रतिष्ठित हो सकती। वर्तमान युग, नैतिक उन्नयन से अधिक, इसी प्रकार के बहिरंतर रूपांतर की प्रतीक्षा करता है।”

गद्य-पथ—पृ० ८२

वर्तमानयुग के इस नवीन रूप के प्रभाव के फलस्वरूप ही युगवाणी में एक विशेष प्रकार की विचारधारा की अभिव्यक्ति हुई जो न तो भारत के प्राचीन वैभव की उपेक्षा करती थी और न ही विज्ञान प्रधान वर्तमान युग की आकांक्षाओं को तिरस्कार करती थी। पंत ने स्वयं ही अपनी युगवाणी की विचारधारा को स्पष्ट किया है जिसे अरविंद दर्शन (जिससे कवि का परिचय बाद को हुआ) से मिलाकर पढ़ने से कवि के चिंतन के विकास, समन्वय, अंतर्विरोध आदि से सम्बन्धित समस्याएँ स्पष्ट हो जाएँगी।

“युगवाणी में प्रकृति संबंधी कविताओं के अतिरिक्त, जो मेरी अन्य प्राकृतिक रचनाओं की तुलना में अपनी विशेषताएँ रखती हैं—मुख्यतः पाँच प्रकार की विचारधाएँ मिलती हैं—

(१) भूतवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय, जिससे मनुष्य की चेतना का पथ-प्रशस्त बन सके।

(२) समाज में प्रचलित जीवन की मान्यताओं का पर्यालोचन एवं नवीन संस्कृति के उपकरणों का संग्रह ।

(३) पिछले युग के उन मृत आदर्शों और जीर्ण रूढ़ि-रीतियों की तीव्र भर्त्सना, जो आज मानवता के विकास में बाधक बन रही हैं ।

(४) मार्क्सवाद तथा फ्रायड के प्राणि शास्त्रीय मनोदर्शन का युग पर प्रभाव : जन समाज का पुनः संगठन एवं दलित लोक समुदाय का जीर्णोद्धार ।

(५) बहिर्जीवन के साथ अन्तर्जीवन के संगठन की आवश्यकता: राग भावना का विकास तथा नारी जागरण । ”

गद्य-पथ पृ० ८०

उपर्युक्त उद्धरणों में ही हमें पन्त और प्राचीन भारत के दार्शनिकों के भेद के कारण तथा उसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है । पन्त को एक ऐसे दर्शन की आवश्यकता थी जिसमें उपर्युक्त विशेषताओं की तार्किक आधार पर पुष्टि हो । अरविन्द के दर्शन में उसे यह आवश्यकता पूरी होती दिखाई दी । पन्त ने उसे स्वीकार कर लिया ।

पन्त की दृष्टि व्यक्ति के उद्धार की ओर गई और समाज के उद्धार की ओर की । कवि के लिए सामाजिक उत्कर्ष ही प्रधान साध्य है । किंतु भारत के प्राचीन दार्शनिक व्यक्ति से सीधे परमात्मा की ओर चले गये । पन्त को समाज की यह उपेक्षा कभी भी साध्य न थी । इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह व्यक्ति की सत्ता पर विश्वास नहीं करता । उसने अति सामाजिकता की भर्त्सना भी की है । जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए पन्त ने लिखा है—

“जिस प्रकार आज का युग आदर्श से विमुख है उसी प्रकार वह व्यक्ति के प्रति विरक्त है । वह केवल समाज और सामूहिकता का अनुयायी है । वह व्यक्ति को समाज की भारी भरकम निष्प्राण मशीन का कल पुरजा बना देना चाहता है । अंतर्जीवी व्यक्ति की जो महान सामाजिकता रूपी बाह्य देन है वह मनुष्य की आत्मा को उसके आधीन रखकर चलाना चाहता है । यह ऐसा ही हुआ जैसे कोई मूल जल स्रोत की धारा को बंद कर उसे उसी के

प्रवाह से एकत्रित हुए तालाब के पानी में डुबा देना चाहे। ऐसी अनेक प्रकार की असंगतियों आज के युग में मेरे समान अंतर्मुख प्राणी को अधिकाधिक चिंतनशील बनाती जाती है, जिसे मैं युग ऋण समझकर चुकाने का प्रयत्न करता हूँ।”

व्यक्ति और समाज की इस पहेली को पंत ने नवीन जीवन दर्शन को प्राप्त करने पर ही नहीं उठाया। आधुनिक कवि की भूमिका में भी उसने कहा था—

“मनुष्य को दैहिक प्रवृत्तियों और सामाजिक परिस्थितियों के बीच जितना विशद सामंजस्य स्थापित किया जा सकेगा उसी के अनुरूप, जन समाज की सांस्कृतिक चेतना का भी विकास हो सकेगा। जिस सामाजिक व्यवस्था में सामाजिक सदाचार और व्यक्ति की आवश्यकताओं की सीमाएँ एक दूसरे में लीन हो जायेंगी, उस समाज में व्यक्ति और समाज के बीच का विरोध मिट जायेगा, व्यक्ति के लुप्त देह ज्ञान की (अह्मात्मिक) भावना विकसित हो जायेगी उसके भीतर सामाजिक व्यक्तित्व स्वतः कार्य करने लगेगा और इस प्रकार व्यक्ति अपने सामूहिक विकास की आध्यात्मिक पूर्णता तक पहुँच जायेगा।”

पृ० २३

तुलसी के ‘रामचरित मानस’ का दर्शन—अद्वैत या विशिष्टाद्वैत—व्यक्तिवादी है, फिर भी उसने राम-राज्य की कल्पना की जिसे आज के युग में ही महात्मा गांधी ने दुहराया। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि तुलसी के रामराज्य में और पंत के नवीन युग में क्या भेद है? इस प्रश्न के विशद उद्घाटन का यहाँ अवसर नहीं है। हों संक्षेप में यह समझ लेना चाहिए कि तुलसी का रामराज्य अपने युग की सीमाओं के भीतर आदर्श था किन्तु आज के युग में उसकी कठोर वर्ण व्यवस्था आदि के लिए स्थान नहीं है। इसी प्रकार कबीर, सूर, जायसी आदि के दार्शनिक सिद्धांतों से भी पंत के दार्शनिक सिद्धांतों की तुलना की जा सकती है और उपयोगी निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं।

यह तो रही हिंदी की प्राचीन कवियों की बात। आधुनिक युग में प्रसाद, निराला, महादेवी आदि की दार्शनिक मान्यताओं से पंत के विचारों

की तुलना की जा सकती है। महादेवी का दर्शन पूर्णतः बौद्ध-दर्शन की गोदी में उदित-विकसित हुआ है। निराला में नवीन विचार मिलते हैं किंतु दार्शनिक चिंतन प्राचीन विचारधारा से ग्रस्त है। प्रसाद में भी प्राचीन दर्शन की ही प्रधानता है। यहाँ संक्षेप में पंत और प्रसाद के दृष्टिकोण के भेद को प्रकट कर पंत में अरविंद दर्शन की स्वीकृति को समझाने का प्रयास किया जाएगा। पंत ने 'यदि मैं कामायनी लिखता' में स्वयं ही अपने और प्रसाद के दृष्टिकोण के भेद को स्पष्ट किया है। प्रसाद ने मनु के जीवन की संघर्ष-कहानी दिखाकर उसे कैलाश की चोटी पर आनन्द मग्न दिखाया है। पंत के अनुसार प्रसाद ने ऐसा करके समाज की उपेक्षा की है। प्रसाद को मनु के समरसता की आनन्दानुभूति को समाज के लिए सहज बनाने का प्रयास करना चाहिए था। पंत के शब्दों में ही उनके विचार पढ़िए—

“किन्तु उसके बाद जो कुछ है वह केवल चिरपरिचित तथा पुरातनतम, जिसे शायद आज का अध्यात्म अतिक्रम कर चुका है—अतिक्रम इस अर्थ में कि वह मानव जीवन के अधिक निकट पहुंच गया है। मनु इड़ा प्रेरित जीवन संघर्ष से विरक्त हो भाग खड़े होते हैं और जीवन की भूमि को छोड़कर मन के सूक्ष्म प्रतिमान रूप त्रिपुर को भी पार कर त्रिपुरारि के उस चैतन्य लोक में पहुँचकर जीवन समस्याओं का समाधान पाते हैं जो सुख दुख भेदभाव के द्वन्द्व से अतीत, समरस चैतन्य का क्रीड़ास्थल है। इड़ा श्रद्धा त्रिपुर और उनके पारस्परिक संबंध में तथा आनन्द की स्थिति के उद्घाटन के बीच अनेक प्रकार की छोटी मोटी दार्शनिक असंगतियाँ तथा कल्पना का आरोप मिलता है उस पर विचार न करते हुए भी जिस अभेद चैतन्य के लोक में पहुँचकर विश्व जीवन के सुख दुखमय संघर्ष से मुक्त होने का सँदेश कामायनी में मिलता है वह मुझे पर्याप्त नहीं लगता। मैं मानव चेतना का आरोहण करवाकर उसे वहीं मानस तट पर अथवा अधिमानस भूमि पर कैलाश शिखर के सान्निध्य में छोड़कर सन्तोष नहीं करता। वह आनन्द चैतन्य तो है ही और जीवन संघर्ष से विरक्त होकर मनुष्य व्यक्तिगत रूप से उस स्थिति पर पहुँच भी सकता है। पर यह तो विश्व जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं है। मनुष्य के सामने प्रश्न यह नहीं है कि वह इड़ा श्रद्धा का समन्वय

कर वहाँ तक कैसे पहुँचे—उसके सामने जो चिरंतन समस्या है वह यह है कि उस चैतन्य का उपभोग मन जीवन तथा पदार्थ के स्तर पर कैसे किया जा सकता है। परम चैतन्य तथा मानव चैतन्य के बीच का, इहलोक तथा परलोक के बीच का, धरती स्वर्ग, एक बहु, समरस या बहुरस के बीच के व्यवधान को मिटाकर यह अन्तराल किस प्रकार भरा जाए। उसके लिए निःसंशय ही इड़ा श्रद्धा का सामंजस्य पर्याप्त नहीं। श्रद्धा की सहायता से समरस स्थिति प्राप्त कर लेने पर भी मनु लोक जीवन की ओर नहीं लौट आए। आने पर भी शायद वहाँ कुछ नहीं कर सकते। संसार की समस्याओं का यह निदान तो चिर पुरातन, पिष्टपोषित निदान है; किन्तु व्याधि कैसे दूर हो? क्या इस प्रकार समस्थिति में पहुँच कर और वह भी व्यक्तिगत रूप से।’

गद्य-पथ—पृष्ठ १६१-६२

पन्त ने जो हल प्रस्तुत किया है वह लोक जीवन और परम आनन्द के द्वैत को स्वीकार नहीं करता। समाज में रहकर ही, एक नवीन संस्कृति के रूप का उद्घाटन ही उसका लक्ष्य है, जिसमें मनुष्य ‘मन जीवन तथा पदार्थ के स्तर’ पर ही अलौकिक आनन्द की अनुभूति कर सकता है।

अरविन्द ने जीवन के तीन स्तर स्वीकार किए हैं जिनके भीतर जीवन की ऊर्ध्व और सम सभी धरातल आ जाते हैं। जीवन के तीन स्तर ये हैं—ऐन्द्रिक (sensual), बौद्धिक (mental) और आत्मिक (spiritual)। जिस प्रकार मनुष्य बौद्धिक दृष्टिकोण के अपनाने पर ऐन्द्रिक जीवन का पूर्ण बहिष्कार नहीं करता उसी प्रकार मनुष्य आत्मिक जीवनमें प्रवेश करके ऐन्द्रिक और बौद्धिक पक्षों का तिरस्कार नहीं करता वरन् उन्हें परिष्कृत रूप में ग्रहण करता है। बौद्धिक दृष्टिकोण ऐन्द्रिक जीवन—मनुष्य की विषय-वासनाएँ—को परिष्कृत तथा संयत रूप प्रदान करता है। उसी प्रकार आत्मा के ज्ञान और आनन्द के क्षेत्र में प्रवेश करने पर मनुष्य जीवन के बौद्धिक तथा ऐन्द्रिक जीवन संस्कृत और पावन हो जाता है। जीवन के इस त्रिविध विभाजन के अनुरूप ही अरविन्द ने बौद्धिक जीवन के भी तीन स्तर माने हैं। प्रथम है अपरिपक्व बौद्धिक स्तर (Infra Rational), दूसरा है बौद्धिक स्तर

(Rational) और तीसरा है ऊर्ध्व बौद्धिक स्तर (Supra rational) इसी प्रकार अरविन्द के चेतना के भी तीन स्तर माने हैं । चेतन (Conscious), उप चेत (Subconscious) और अव्यक्त चेतन (Subliminal consciousness) । इसके अतिरिक्त ऊर्ध्व चेतन चेतना की एक चौथी अवस्था है जिसका सम्बन्ध भविष्य से है । वर्तमान मनुष्य की चेतना के उपर्युक्त तीन स्तर हैं । The synthesis of yoga में अरविन्द ने लिखा है कि हम अपने जीवन के विषय में जो कुछ जानते हैं वह जीवन के सम्पूर्ण रहस्यों का एक अभिव्यक्त अंशमात्र है । इस बाह्य चेतन के वैज्ञानिक अध्ययन के बावजूद भी हम जीवन के सम्पूर्ण रहस्यों को नहीं समझ सकते । इस बाह्य चेतन के भीतर उप चेतन है । जिसमें बीज रूप में संस्कार विद्यमान हैं और जिसमें हम निरन्तर नए बीज डाला करते हैं । और हमारे मस्तिष्क के भीतर अव्यक्त चेतन है जो मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को एकता के सूत्र में बाँधता है । इस प्रकार अरविन्द ने सामाजिक, मनोवैज्ञानिक आदि सभी दृष्टि कोणों से मनुष्य जीवन का पूर्ण चित्र प्रस्तुत करने का प्रयास किया है । उसमें प्राचीन भारतीय-चिंतन वैभव के साथ-साथ नवीन मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन किया है जिसके कारण पंत प्राचीन भारत के दार्शनिकों की अपेक्षा अरविन्द की ओर अधिक आकृष्ट हुआ ।

अरविन्द का दर्शन प्रवृत्ति मार्ग की प्रतिष्ठा करता है । उधर गीता भी निष्काम कर्मयोग का उपदेश देती है जो मनुष्य को जीवन का तिरस्कार नहीं उसमें रह कर उससे ऊपर उठने का संदेश देती है । गीता के कर्मयोग और अरविन्द के दर्शन में जो प्रधान अन्तर है वह यह है कि गीता व्यक्ति पर अधिक बल देती है वह ऐसे युग पर विश्वास करके और उसे ही आधार बना कर नहीं चलती जिसमें समाज के सभी सदस्य कर्म योगी हो जायेंगे । गीता की निर्दिष्ट साधना व्यक्तिगत है । साधना के द्वारा कर्मयोगी जिस आनन्द की अवस्था पर पहुँचता है वह सारे समाज के उपभोग की चीज नहीं हो सकता । किंतु अरविन्द दर्शन में वैज्ञानिक और ऐतिहासिक विवेचन के आधार पर एक ऐसे युग का स्वप्न देखा गया है जिसके सभी मनुष्य समान मानसिक उत्कर्ष से विभूषित होंगे । यही गीता और अरविन्द दर्शन का भेद है । इतना होते

हुए भी गीता के निष्काम कर्मयोग को अस्वीकार नहीं किया गया वरन इसे नवीन युग की एक विशेषता मान लिया गया है ।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है । क्या ऐसे युग का आगमन सम्भव है जिसमें सभी मनुष्यों का मानसिक स्तर समान होगा ? जिसमें सभी ऊर्ध्व चेतना और नवीन संस्कृति से विभूषित होंगे ? प्राचीन इतिहास तो यही बताता है कि पहले कभी भी ऐसी अवस्था की कल्पना नहीं की गई और न ही किसी प्राचीन युग में इसका स्वरूप लक्षित होता है । आत्मा की साधना व्यक्तिगत ही रही । यद्यपि यह सत्य है कि उसे समाजगत बनाने के भी प्रयत्न हुए किंतु उसमें व्यक्ति की साधना का ही साम्राज्य रहा । एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन काल में मानसिक समानता के अभाव के साथ भौतिक समानता का भी अभाव था । वर्तमान युग में जब मार्क्स ने भौतिक समानता की आवाज उठाई और मार्क्सवाद की प्रतिष्ठा की तो स्वाभाविक ही था कि सांस्कृतिक समन्वय की ओर भी चिन्तकों का ध्यान जाता । जब जीवन की बाह्य अवस्था-व्यवस्थाओं में समानता हो सकती है तो जीवन के आंतरिक पक्षमें एकता क्यों नहीं हो सकती ? मार्क्स ने इस आंतरिक एकता की उपेक्षा की ओर उसे बाह्य-एकता के द्वारा नियंत्रित किया । अरविन्द ने हृदय और बुद्धि की एकता पर बल दिया । ऊपर यह प्रदर्शित किया जा चुका है कि अरविन्द के प्रभाव में आने से पहले ही पंत अन्तरतम साम्य के महत्व को प्रतिष्ठित कर चुका था । अतः यह सम्भव प्रतीत होता है कि समाजमें संस्कृति की एकता हो किंतु यह एकता स्तर की एकता है, जीवन की अभिव्यक्ति की एकता नहीं है । सभी मनुष्यों का मानसिक स्तर समान होगा, उनकी प्रतिभा एकसी होगी किंतु यह आवश्यक नहीं है कि उनकी प्रतिभा की अभिव्यक्ति भी एक ही बैंधी दिशा में होगी ।

उत्तरा की रचनाएँ

पंत की सामाजिक चेतना के उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त अब उत्तरा की रचनाओं में उसकी अभिव्यक्ति का उद्घाटन किया जाएगा । उपर्युक्त सभी विशेषताएँ हमें उत्तरा की रचनाओं में मिलती हैं । इन विशेषताओं को पंत

पूर्व रचनाओं की विशेषताओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन ऊपर के विवेचन के प्रकाश में ही किया जा सकता है।

(१) संक्रान्तिकाल का वर्णन—आज का युग संक्रांति का युग है। प्राचीन विचारधाराओं और आदर्शों का नाश हो रहा है तथा नवीन विचारों और आदर्शों का अवतरण हो रहा है। पंत ने अनेक कविताओं में या कविताओं की पंक्तियों में संक्रांति युग की विभीषिका के चित्र प्रस्तुत किए हैं। युग संघर्ष में वह कहता है—

उसका जागृत मन करता दिग्घोषण,
अन्तर्मानव को यह युग संघर्षण !
शोषक हैं इस ओर, उधर हैं शोषित,
बाह्य चेतना के प्रतीक जो निश्चित।
धनिकों श्रमिकों का स्वरूप धर बाहर,
हास शक्तियाँ आत्म नाश हित तत्पर ;
क्षोभ भर भरे युग शिखर उमड़ते दुर्घर,
टकराता भू ज्वार लुब्ध भव सागर।

पृ० ७

कवि का उद्बुद्ध मन इस बात की घोषणा करता है कि आज मनुष्य के हृदय में भयंकर संघर्ष हो रहा है। इस संघर्ष में भाग लेने वाले हैं शोषक और शोषित। यहाँ कवि मार्क्सवाद को स्वीकार करता दिखाई देता है। मार्क्सवादी के लिए भी आज के युग में यह संघर्ष विद्यमान है। उनका लक्ष्य है श्रमिकों का समाजवादी राज्य। किन्तु पंत शोषकों और शोषितों को धनिकों और श्रमिकों को बाह्य चेतना के प्रतीक मानता है। उनके संघर्ष के कारण और उसका लक्ष्य दोनों ही आर्थिक-राजनीतिक जीवन के बीच की चीजें हैं। वे अन्तर्जीवन के सत्य को, सांस्कृतिक मूल्यों को अस्वीकार करते हैं इसलिए फल यह होगा कि आने वाले समाज में दोनों का नाश हो जाएगा। क्योंकि भविष्य के समाज का प्राण भौतिक मूल्य नहीं मानसिक उत्कर्ष होगा और जहाँ हृदय के उदात्त भावों का विस्तार है वहाँ शोषक और शोषित या धनिक और श्रमिक के भेद का प्रश्न ही नहीं रहता। इस प्रकार पंत मार्क्स-

वादी दृष्टिकोण से आगे बढ़ जाता है। मार्क्सवाद भी इस संघर्ष का हल खोजता है और पंत भी। एक का संसार भौतिकता का है जिसमें चेतना की कोई सत्ता नहीं, दूसरे का संसार आध्यात्मिक है, जिसमें भौतिक आवश्यकताओं का उचित स्थान है।

ऐसे चिंतक भी हैं जो नवीन चेतना का विरोध करते हैं। उनके प्रति इसी कविता में पंत कहता है—

“नव्य चेतना का विरोध करते जन,
यह जड़त्व भू मन का अन्ध पुरातन।
आज मनोजग में जन के भय संशय,
द्वेष प्रेम का देता पहिला परिचय।

× × ×

ध्यान मौन आराधक, साधक, गायक,
सोच मग्न रे मनोजगत के नायक।
आंदोलित मानवता के अभिभावक,
विश्वक्रांति यह : आपद्काल भयानक

पृ० ८-६

वाद-विशेष से जिनकी बुद्धि ग्रस्त है, वह नवीन चेतना का विरोध करते हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि नवीन चेतना का विरोध करते हुए भी वे नवीन समाज और सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना की बात कहते हैं जिनका आधार भौतिकता होगी। किन्तु यह तो मानव समाज के इतिहास में सदैव से चला आया है। जब कभी किसी नवीन सांस्कृतिक आंदोलन ने जन्म लिया उस काल के व्यक्तियों ने उसका विरोध किया। किन्तु इस विरोध से भला आंदोलन दबाया थोड़े ही जा सकता है। आज के संसार के व्यक्तियों में भय भरा हुआ है। वे एक दूसरे पर सन्देह करते हैं, एक दूसरे से घृणा करते हैं। किन्तु यह घृणा ही मनुष्य के प्रेम का परिचायक है। अतीत या वर्तमान से घृणा में ही यह निहित है कि व्यक्ति को भविष्य से प्रेम है। जो व्यक्ति सम-भेदार हैं, जिनमें बौद्धिक जागरण का प्रकाश है वे सब नवीन समाज के स्वरूप के विषय में चिंतन लीन हैं। सभी जानते हैं कि आज सारे विश्व में

क्रांति हो रही है, नवीन विश्व का निर्माण होने जा रहा है ।

‘प्रगति’ कविता में सचमुच ही कवि का मन युग परिवर्तन के लिए कराह उठता है—

“जग जीवन आज बना

स्वार्थों का प्रांगण,

जीवन की साध

कर उठती वन-रोदन,

अन्तर कराहता,—

अब युगपरिवर्तन हो ।”

पृ० ३५

आज का मनुष्य स्वार्थ में डूब कर पशु के समान हो गया है । न उसकी बुद्धि में विवेक की आँखें हैं, न उसके हृदय में प्रेम का प्रकाश । जिसे शक्ति का एक कण भी प्राप्त है वह सारे समाज को लूट लेना चाहता है । आखिर ऐसा कब तक चल सकता है, सहा जा सकता है । इस अवस्था के विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक ही है । कवि ‘प्रतिक्रिया’ से कहता है—

“तुम खोलो जीवन बंधन,

जन मन बंधन ।

जीर्ण नीति अब रक्त चूसती जन का,

सदाचार शोषक मन के निर्धन का,

स्वार्थी पशु

मुख पहने मानव पन को,—

तुम छेड़ो अब अन्तर रण

मन हो प्रांगण ।”

पृष्ठ ३७

प्राचीन आदर्श और प्राचीन नीतिशास्त्र दोनों ही समाज के शोषण के हथियार बन गए हैं । उनके परिवर्तन की आवश्यकता है । नवीन आदर्श और नवीन नैतिक मूल्यों का निर्माण आवश्यक एवं स्वाभाविक है ।

यहाँ इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि जब कवि संक्रान्तिकाल

के चित्रण में भौतिकवादियों का प्रबल विरोध करता है, तो क्या वह स्वयं केवल आध्यात्मिक मूल्यों में फँसकर लौकिक जीवन का विरोध करता है ? क्या आदर्श और यथार्थ के इस संघर्ष में कवि आदर्श का पक्ष लेता है और यथार्थ की पूर्णतः उपेक्षा करता है ? 'सत्य' कविता में पन्त ने वस्तुवादियों और आदर्शवादियों के इस संघर्ष को चित्रित किया है और अन्त में उनके समन्वय का प्रयास किया है । कवि भौतिकवादियों से कहता है—

“तुम वस्तु तमस से ढंक दोगे
आदर्शों का अक्षय प्रकाश ?
यांत्रिक पशु बल से रोकोगे
मानव का देवोत्तर विकास !

+ + +
तुम हो तुषार की शिला स्वयं,
पल में जल में जाओगे गल,
शीतल प्रकाश ही नहीं सत्य
वह बन सकता है ताप प्रबल !

पृ० ८६

संक्रान्तिकाल के इस युग में संघर्ष का रूप बड़ा व्यापक है । आज प्राचीन और नवीन का विरोध है, भौतिकता और आध्यात्मिकता का संग्राम है, बुद्धि और हृदय की शत्रुता है तथा आदर्श और यथार्थ का संघर्ष है । किन्तु क्या भौतिकता का अंधकार आदर्श के सत्य को छिपा सकता है ? केवल यंत्रों के बल से मनुष्य के दिव्य विकास को रोका नहीं जा सकता । भौतिकवाद बर्फ की शिला के समान गल कर विलीन हो जाएगा क्योंकि सत्य में सन्तोष और आनन्द ही नहीं वरन तीक्ष्ण ताप भी है । आदर्श और यथार्थ दोनों ही एक दूसरे का विरोध करते हैं और दोनों सिद्धान्तों के पिछलग्गू एक दूसरे को फटकारा करते हैं । उसी कविता में आगे कवि ने कहा है—

तुम भाप उन्हें कहते, हँसकर,
वे तुम को मिट्टी का ढेला ।
वे उड़ सकते, तुम अड़ सकते,
जीवन तुम दोनों का मेला !

फिर भी यदि जड़ता तुमको प्रिय,
उनको चेतनता;—दुख नितान्त,
है सत्य एक,—जो जड़ चेतन,
क्षर अक्षर, परम, अनन्त सौँत ?

पृ० ८७-८८

यदि इस संघर्ष के निर्देश को न समझ कर यथार्थवादी कोरा यथार्थवादी बना रहता है और आदर्शवादी कोरा आदर्शवादी बना रहता है तो यह नितान्त दुख की बात है। सत्य तो जड़ और चेतन दोनों ही गुणों से युक्त है। ईश्वर के स्वरूप का विस्तृत उद्घाटन तो आगे किया जाएगा, यहां केवल यह प्रदर्शित करना ही उद्देश्य है कि आदर्श और यथार्थ के इस संघर्ष में पन्त ने आदर्श का पक्ष नहीं लिया, वरन् उसने दोनों के समन्वय का प्रयास किया है। इस समन्वय के द्वारा ही, नवीन स्वस्थ रूपों के सृजन के द्वारा ही हम आज के समाज की आकॉक्षाओं को तृप्त कर सकते हैं। आज समाज चाहता क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर पन्त ने 'सांस्कृतिक चेतना' में स्वयं ही दिया है—

“धरती की चेतना आज नवीन प्रकाश चाहती है, वह प्रकाश मानव आत्मा की एकता का प्रकाश है। धरती की चेतना आज नवीन सौंदर्य चाहती है, वह सौंदर्य मानव चेतना के सर्वाङ्गीण जागरण का सौंदर्य है। धरती की चेतना आज नवीन पवित्रता चाहती है, वह पवित्रता मनुष्य के अन्तर्मुख तप तथा बहिर्मुख साधना की पवित्रता है। धरती की चेतना आज नवीन वाणी चाहती है और वह वाणी मानव उर में विकसित हो रही विश्व प्रेम की वाणी है। आज की साहित्यिक संस्था मानवता के अन्तरतम सम्मिलन का सृजन-तीर्थ है।”

गद्य पथ पृ० १६६

२—नवीन सांस्कृतिक चेतना—आरोहण

नवीन युग का आगमन अवश्यंभावी है। उसमें सभी क्षेत्रों में सामरस्य तथा परिष्कार होगा। जीवन की बाह्य आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ ही साथ उसमें अन्तर्बोध का भी पूर्ण उल्लास होगा। जिस प्रकार प्राचीन युगों में नवीन युगों का स्वाभाविक उदय हुआ था, उसी प्रकार वर्तमान के बीच

से नए भविष्य का अवतरण होगा। 'उत्तरा' कविता में कवि कहता है—

“बदल रहा अब स्थूल धरातल,
परिणत होता सूक्ष्म मनस्तल,
विस्तृत होता बहिर्जगत अब

विकसित अंत जीवन अभिमत।”

पृ० १

नवीन युग में स्थूल और सूक्ष्म, बाह्य और अन्तर सभी क्षेत्रों में क्रान्ति होगी। उत्तरा की भूमिका में पन्त ने लिखा है—

“इस प्रकार मैं युग संघर्ष का एक सांस्कृतिक पक्ष भी मानता हूँ जो जन-युग की धरती से ऊपर उठकर उसकी ऊपरी मानवता की चोटी को भी अपने फड़कते हुए पंख से स्पर्श करता है; क्योंकि युग-विप्लव मानव जीवन के आर्थिक राजनीतिक धरातलों में महान् क्रांतिकारी परिवर्तन ला रहा है, वह उसकी मानसिक, आध्यात्मिक अवस्थाओं में भी आंतरिक विकास तथा रूप-ंतर उपस्थित करने जा रहा है, और जैसा कि मैं ‘युगवाणी’ की भूमिका में लिख चुका हूँ,” भविष्य में जब मानव-जीवन विद्युत् तथा अणुशक्ति की प्रबल टांगों पर प्रलय वेग से दौड़ने लगेगा तब आज के मनुष्य की टिम-टिमाती हुई चेतना उसका संचालन करने में समर्थ नहीं हो सकेगी” बाह्य जीवन के साथ ही उसकी अन्तर्चेतना में भी युगान्तर होना अवश्यंभावी है।” इसी नवीन चेतना की मनः क्रीड़ा, उसके आनन्द और सौंदर्य, उसकी आशा-विश्वास प्रद प्रेरणाओं के उद्बोधन गान मेरी इधर की रचनाओं के विषय हैं जो जन-युग के संघर्ष में मानव-युग के उद्भव की स्वप्न सूचनाएँ भर हैं।”

पृ० ५

वर्तमान काल में हृदय और बुद्धि का तीव्र संघर्ष है। हृदय जिस बात के लिए प्रेरित करता है, बुद्धि उसकी आलोचना कर उसे काट गिराती है। बुद्धि जिस तथ्य को सत्य और शिव घोषित करती है, जड़ता में डूबा हुआ हृदय उसे अस्वीकार कर देता है। किन्तु भविष्य में हृदय और बुद्धि का परिणय होगा। पन्त कहता है—

“फिर स्वर्ग व जाए

भू झी हृत्तंत्री निश्चय,

जो ज्ञान भावना,
बुद्धि हृदय का हो परिणय !”

परिणय—पृ० ४५

यदि ज्ञान का और भावना का, बुद्धि और हृदय का समन्वय हो सके तो निश्चय ही संसार में दिव्य संस्कृति का संचरण हो उठे ।

बुद्धि के क्षेत्र में भी अनेक प्रकार के विरोधी मत और सिद्धान्त पाए जाते हैं । विरोधी सिद्धान्तों पर विश्वास करने वालों की अधिकांश शक्ति संघर्ष और खंडन में ही बीत जाती है । किन्तु नवीन युग में सभी तर्कवाद मिट जायेंगे और मनुष्य मानव की रहस्य एकता पर आश्वस्त होकर परम आनन्द की अनुभूति करेगा । पन्त ने तर्कवादों का, वर्गों का, विरोधी आदर्शों का विरोध किया है । ‘आवाहन’ कविता में उसने कहा है—

“युग युग के जितने तर्कवाद
मानव ममत्व से वे पीड़ित
तुम आओ, सीमा हों विलीन,
फिर मनुज अहं हो प्रीति द्रवित ।”

पृ० ६६

सभी तर्कों के मूल में मनुष्य का अहं और ममत्व रहता है । इसीलिए उनमें संकीर्णता होती है और वे त्याज्य हो जाते हैं । ‘जीवन कौपल’ में कवि ने लिखा है कि जब नवीन सांस्कृतिक चेतना आजाएगी तो मनुष्यों का दुराग्रह नष्ट हो जाएगा ।

तुम क्या रटते थे, जाति, धर्म,
हा, वर्ग युद्ध, जन आंदोलन,
क्या जपते थे, आदर्श, नीति,—

वे तर्ज वाद अब किसे स्मरण । पृ० ८०

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि तर्कवादों के साथ ही साथ कवि जातिवाद धार्मिक संकीर्णता, वर्ग-युद्ध और कोरे आदर्शवाद के विरुद्ध है । वर्ग-संघर्ष को पन्त ने उतने विषद रूप में स्वीकार नहीं किया है, जिसमें वह

माक्सवाद में स्वीकृत है। उत्तरा की भूमिका में उसने लिखा है—

“अपने युग को मैं राजनीतिक दृष्टि से जन-तन्त्र का युग और सांस्कृतिक दृष्टि से विश्व-समानता अथवा लोक मानवता का युग मानता हूँ, और वर्ग-युद्ध को इस युग के विराट् संघर्ष का एक राजनीतिक चरण मात्र।” पृ० ३

वर्ग-युद्ध का सम्बन्ध बाह्य-जीवन से है। इसीलिए वह पर्याप्त नहीं है। साँस्कृतिक क्राँति की भी अपेक्षा है। वर्ग हीनता का अर्थ भी समझना होगा। वर्ग हीन सभ्यता का आधार आर्थिक राजनीतिक घरातल नहीं, साँस्कृतिक घरातल है। भूमिका में पन्त ने यह बात भी स्पष्ट की है—

मेरी दृष्टि में पृथ्वी पर ऐसी कोई भी सामाजिकता या सभ्यता स्थापित नहीं की जा सकती, जो मात्र समदिक् रह कर वर्गहीन हो सके। क्योंकि ऊर्ध्व-संचरण ही केवल वर्गहीन संचरण हो सकता है। और वर्ग हीनता का अर्थ केवल अन्तरैक्य पर प्रतिष्ठित समानता ही हो सकता है। अतः मानवता को वर्गहीन बनने के लिए समतल प्रसार गामी के साथ ऊर्ध्व विकास का भी बनना ही पड़ेगा, जो हमारे युग की एकांत आवश्यकता है।” पृ० २२

चेतना ही मानवजीवन का सत्य है। वह ही समाज की संस्कृति और उसके सम्बन्धों का निर्माण करती है। वही विकसित होकर नवीन जीवन का निर्माण करेगी। मनुष्यत्व से ही देवत्व का उदय हो रहा है। यह आरोहण का क्रम है जो अरविन्द दर्शन के अनुरूप है। पन्त ने ऐसी भावनाएँ स्थान-स्थान पर प्रकट की हैं। ‘जीवन कौपल’ में उसने लिखा है—

यह मानवीय रे सत्य अखिल,

आधार चेतना, कला कुशल,

वह सृजन प्राण : होती विकसित

जड़ से जीवन मन में अविकल।

पृ० ८१

‘युगदान’ में भी पन्त ने यही बात कही है—

अब मनुष्यत्व से मनोमुक्त

देवत्व रहा रे शनैः निखर,

भू मन की गोपन स्पृहा स्वर्ग

फिर विचरण करने को भू पर !

यह अंधकार का घोर प्रहर
 हो रहा हृदय चेतना द्रवित,
 फिर मानवीय बन जाग रही
 जड़ भूत शक्तियां अभिशापित ।

पृ० ७८-७९

नवीन युग में विज्ञान का पूर्ण विकास होगा तथा मनुष्य समाज उसके अवगत रहस्यों से जीवन को पूर्ण बनाने में सफल होगा । बाह्य जीवन का उत्कर्ष प्रमुखतः विज्ञान की उन्नति पर ही निर्भर है । जिस प्रकार नव मानव अन्तर्जीवन में ऊर्ध्व चेतन की संपूर्ण शक्तियों का उपभोग करेगा, उसी प्रकार वह भौतिक उन्नति के चरम सुखों को भी प्राप्त करेगा । 'युग संघर्ष' में नवीन संस्कृति का चित्रण करते हुए कवि कहता है—

“विद्युत अणु उसके सन्मुख अब नत फन,
 वसुधा पर नव स्वर्ग सृजन के साधन,” पृ० ५९
 “जागरण गान” में कवि मनुष्य से कहता है—

क्या न करोगे तुम विद्युत
 अणु अश्वों पर आरोहण ?
 महानाश के प्लावन में
 कर दोगे फूल विसर्जन ! पृ० १४

३—राष्ट्रीयता

पन्त ने पूर्व और पश्चिम के समन्वय की बात कही है । पूर्व से अभिप्राय भारत के आध्यात्मिक उत्कर्ष से है । उत्तरा की भूमिका में उसने कहा है—

“पच्छिम को पूर्व विशेष कर भारत, जो अन्तर्मन तथा अन्तर्जगत का सिद्ध वैज्ञानिक है,—मानव तथा विश्व के अन्तर्विधान में (काल में) अंतर्दृष्टि देगा और पूर्व को पश्चिम जीवन के दिक्-प्रसरित बहिर्विधान का वैभव सौष्ठव प्रदान करेगा । आने वाली सांस्कृतिक चेतना का स्वर्गोन्नत सेतु पूर्व तथा पश्चिम के संयुक्त छोरों पर झूलकर धरती को जीवन एवं विश्व-मन को एक तथा अखण्ड बना देगा । तब दोनों के, आज की दृष्टि से, विरोधी

अस्तित्व नवीन मानव-चेतना के ज्वार में डूब जाएँगे और विश्व-मानवता एक ही सिन्धु की अगणित लहरों की तरह भू-जीवन की आरपार-व्यापी सौंदर्य गरिमा वहन कर सकेगी ।”

पृ० २३

पंत विश्व-संस्कृति का कवि है। उसकी दृष्टि केवल भारत या एशिया तक ही सीमित नहीं हैं। किन्तु विश्व-बंधुत्व और राष्ट्रीयता में कोई विरोध नहीं है। फलस्वरूप पंत की रचनाओं में भी भारत की गरिमा का खनन हुआ है। ‘जागरण गान’ में पंत ने लिखा है—

विश्व सम्यता रुग्ण : हृदय में
व्याप्त हलाहल भीषण,
अमृत मेघ भारत क्या छिड़केगा
न प्राण से जीवन ?

पृ० १५

अथवा—

मानव भारत हो नव भारत,
जन मन धरणी सुन्दर,
नवल विश्व हो वह आभारत
सकल मानवों का घर।

×

×

×

स्वर्ग भूमि हो भू पर भारत,
जन मन धरणी सुन्दर,
अन्तर ऐश्वर्यों से मण्डित
मानव हो देवोत्तर !

उद्बोधन—पृ० १७-१८

४—प्रेम और वियोग

प्रकृति चित्रण के विवेचन में यह कहा जा चुका है कि प्रकृति की एक ही कविता में पंत ने नवीन चेतना और वियोग की अभिव्यक्ति की है। ‘ग्रंथि’ और ‘पल्लव’ की प्रेम की असफलता को कवि भुला नहीं सका। उत्तरा

में यद्यपि प्रधान स्वर नवीन चेतना के वर्णन का है किंतु वियोग की भी अभिव्यक्ति हुई है। एक बात यह ध्यान देने योग्य है कि अब कवि का वियोग परिष्कृत होगया है। नवीन चेतना के आगमन पर प्रणय पर कोई भी प्रतिबन्ध नहीं रह जाएगा और वहाँ वियोग की आशंका नहीं रहेगी। नवीन चेतना के आगमन पर विश्वास करने वाले कवि के प्रणय में भी शारीरिकता नहीं रह गई है, वरन् वह आत्मा का चिर सम्बन्ध बन गया है। 'गीत-विभव' में कवि ने लिखा है—

पल्लवित प्रणय की तरुण डाल

सुलगी प्राणों में विरह ज्वाल,

कब मिट्टी की मांसल ममता

प्रिय, तुम्हें करेगी आत्मार्पण ?

मैं गाता हूँ,

मैं अन्तर की,

आभा में उर नहलाता हूँ ! पृ० ७२

'प्रतीक्षा' में कवि ने लिखा है कि मेरा अङ्ग-प्रत्यङ्ग प्रिया से मिलने के लिए विह्वल है।

अंग अंग में हृदय छलकता

रोम रोम में प्रणय सिसकता,

तुम में तन्मय हाने को डर

करता क्रंदन गायन !

स्वप्न पंख उड़ते सुख के क्षण

प्राणों में भर विधुर गुंजरण,

मौन हृदय पिक करता कूजन

सांसों में बहता मन !

अमर प्रतीक्षा से ही सुन्दर

शात मुझे, यह मानव अंतर,

विरह प्रीति बन, व्यथागीत स्वर

करते तुम को धारण पृ० १३८

हृदय प्रिया में तन्मय होने के लिए गाता भी है और रोता भी है। मिलन-सुख के पल तो शीघ्र ही समाप्त हो जाते हैं और फिर जीवन में वियोग का गीत भर शेष बच रहता है सारा जीवन विरह की लम्बी कहानी बन जाता है। हृदय चुपचाप भीतर ही भीतर रोया करता है और उच्छ्वासों में मन की व्यथा अभिव्यक्त होती है अन्तिम छंद में कवि ने जीवन का सनातन सत्य प्रकट किया है। वह कहता है कि मुझे मनुष्य के हृदय का भली भाँति परिचय है। जो वस्तु जितनी प्रतीक्षा के उपरान्त प्राप्त होती है वह उतनी ही सुन्दर मानी जाती है और उसका लोभ तथा मूल्य उतना ही बढ़ जाता है। पहले भी कवि ने कहा था “अलग है इष्ट अतः अनमोल साधना ही जीवन का मोल।” प्रिया से मिलन जितनी अधिक प्रतीक्षा के उपरान्त होता है। कवि का विरह ही प्रेम बन कर सदैव प्रिया को हृदय में धारण करता है। विरह ही प्रेम का तीव्र रूप धारण करता है। यहाँ सूरदास की गोपियों की वह उक्ति अनायास ही याद आ जाती है “ऊधो विरहहु प्रेम करै।” वियोग की व्यथा ही गीतों में अभिव्यक्ति हो जाती है, वे गीत जिनमें प्रिया की स्मृति शाश्वत रूप धारण कर लेती है।

यह तो हुआ वियोग का स्वर। इसके साथ ही साथ कवि ने प्रेम के महत्व और स्वरूप पर भी प्रकाश डाला है। प्रेम के बन्धनों को उखाड़ फेंकने की भावना ज्योत्स्ना काल से ही पन्त में लसित होती है। जब दो हृदय प्रेम में विभोर होकर मिलन के लिए व्याकुल हो उठते हैं तो समाज तथा कुल की मर्यादा को उनकी बाधा बनने का कोई अधिकार नहीं। विवाह का अभिप्राय भी प्रेम का मिलन है, अग्नि के समक्ष की गई प्रतिज्ञाएँ ही नहीं। पहले भी कवि उस मनुष्य पर खेद प्रकट करता है जो ‘प्रिया के मुख पर स्वस्थ निश्चल चुम्बन अङ्कित नहीं कर सकता।’ नवीन संस्कृति में प्रेम का यही स्वच्छन्द स्वर्गीय रूप होगा। प्रेम करना तो मनुष्य का स्वभाव ही है। ‘अवगाहन’ में कवि लिखता है—

तुम प्रीति दान कर सको

बनूँ मैं निर्भय,

तुम हृदय दे सको

पूजूँ मैं निः संशय,
मत दो केवल
मधु स्वप्नों का सम्मोहन,
मैं अमर प्रीति में
स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण !

मानव उर आशाओं से
आकुल चंचल,
प्राणों की अभिलाषाओं का
क्रीडा स्थाल ;
वह हृदय नहीं
जो करे न प्रेमाश्रय,
मैं चिर प्रतीति में
स्नान कर सकूँ प्रतिक्षण ।”

पृ० १३३-१३४

कवि प्रिया से यह कामना करता है कि तुम भी मुक्त होकर पुरुष को प्रेम का दान दो जिससे मैं निश्शङ्क हो जाऊँ । नारी प्रेम करने में स्वतंत्र नहीं है इसलिए पुरुष भयभीत होकर प्रेम के क्षेत्र में चरण रखता है । जब नारी प्रेम करने में स्वतंत्र हो और अपने प्रियतम को निस्संकोच हृदय समर्पण कर सके तो पुरुष हर्षोत्फुल्ल होकर उसकी पूजा कर सकता है । प्रेम में नर-नारी दोनों कल्पना की दुनियाँ में खोये रहते हैं । किन्तु कवि ऐसे प्रेम की कामना नहीं करता जो केवल सुन्दर स्वप्नों के भुलावे में पुरुष को बाँध दे । वह तो अमर प्रेम में सदैव स्नान करना चाहता है । ऐसा प्रेम जो जीवन में शक्ति और स्फूर्ति का रंचार करे । मनुष्य के हृदय में आशाओं की आकुलता होती है, इच्छाओं की चंचलता होती है । ऐसा होना स्वाभाविक ही है । नवीन संस्कृत में भी इन आशाओं और इच्छाओं का बहिष्कार नहीं होगा वरन् उनका परिष्कार होगा । वहाँ प्रेम वर्जित नहीं होगा । कवि कहता है कि वह हृदय ही नहीं है जो प्रेम की आराधना नहीं करता । वह तो सदैव प्रेम में स्नान करना चाहता है ।

‘प्रीति समर्पण’ में कवि निष्काम आत्म-समर्पण की बात कहता है। इस प्रेम में ऐन्द्रिकता नहीं है, वरन उसमें आत्मा की पावनता है—

“यह कामना रहित रहस्य - क्षण,
केवल निश्छल आत्म समर्पण,
तुम्हें हृदय - मन्दिर में पाकर
प्रीति मधुर सकुचाई।”

पृ० १३७

जैसे-जैसे मनुष्य की चेतना में आरोहण होता जाता है वैसे ही वैसे उसके जीवन के स्वरूप में भी अन्तर होता जाता है। बाहरी परिस्थितियाँ भी बदल जाएँगी और हृदय भी। इसलिए अब प्रेम में भी वह ऐन्द्रिकता नहीं रही। पवित्र प्रेम रह गया है। अब स्मृति में भी वह मौसलता नहीं रही। केवल विरह से पुनीत प्रेम और समर्पण की भावना ही अवशेष है—

अब प्रेमी मन वह नहीं रहा
ध्रुव प्रेम रह गया है केवल,
प्रेयसि स्मृति भी वह नहीं रही
भावना रह गई विरहोज्ज्वल !
बाहर जो कुछ भी हो बदला
मन का पट बदल गया भीतर
विकसित होती चेतना, उधर

परिणत जग जीवन का संगर !

पृ० ११२

पंत प्रेम को मानव हृदय की पुनीत और स्वाभाविक वृत्ति मानता है। यदि हिन्दी साहित्य में प्रेम के परिवर्तित होते हुए स्वरूप को देखें तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि आधुनिक युग के कवियों ने रीतिकालीन एकांत प्रेम को भी अस्वीकार किया है और द्विवेदीकालीन सुधारवादी अति संयमवादी प्रवृत्ति का भी विरोध किया है। यह अस्वीकृति और विरोध नवीन मनोविज्ञान के प्रकाश में सिद्धांत रूप से किया गया है। प्रसाद ने भी ‘कामायनी’ में प्रेम को प्राकृतिक भूक के समान ही नैसर्गिक प्रवृत्ति माना है। जब वह यह कहता है कि ‘नव हो जगी अनादि वासना, मधुर प्राकृतिक भूक समान’ तो वह दार्श-

निक तथा मनोवैज्ञानिक दोनों रूपों में ही प्रेम की कामना की प्रतिष्ठा करता है। रीतिकाल का प्रेम ऐन्द्रिकता में डूबा हुआ था। किन्तु पन्त का प्रेम मानसिक तुष्टि का साधन है। रीतिकालीन प्रेम में जीवन की उपेक्षा थी, पंत के प्रेम में जीवन को स्फूर्ति एवं प्रेरणा देने की शक्ति है। रीतिकालीन प्रेम जीवन को अकर्मण्य और आलसी बनाता था, पंत का प्रेम सृजन-प्राण है जैसा कि उसने कहा है—

‘क्या किरणों ने चूम, खिलाए

रंग भरे फूलों के आनन।

सृजन प्राण रे स्पर्श प्रेम का

सच है, जीवन करता धारण।’

—शरद् श्री पृ० १०६

यह बिल्कुल सत्य है कि मनुष्य जीवन प्रेम की सृजनात्मिका शक्ति के रूप में धारण करता है। किरणों के प्रेममय चुम्बन पाकर रँगिले पुष्प भी खिल उठते हैं और नवीन शोभा को धारण करते हैं।

रीतिकालीन प्रेम और पन्त द्वारा स्वीकृत प्रेम के इस भेद को देखकर यह नहीं समझना चाहिए कि पन्त में ऐन्द्रिकता है ही नहीं। नहीं यह बात नहीं है। उसमें भी ऐन्द्रिकता के दर्शन होते हैं जिसका विवेचन अभी किया जाएगा। किन्तु इतना होने पर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि पन्त की प्रेम भावना में सिद्धांत रूप से बड़ी पावनता और व्यापकता आई है जैसा कि उपर के तुलनात्मक विवेचन से स्पष्ट है।

५—युग्म चेतना

प्रेम के दो पक्ष हैं—मानसिक और शारीरिक। प्रेम के शारीरिक रूप में स्थूल क्रियाएँ—चुम्बन, आलिङ्गन, रति आदि आती हैं। जिस प्रकार से रीतिकाल के कवियों ने प्रेम के शारीरिक पक्ष का चुम्बन, आलिङ्गन रति आदि का स्वच्छंद वर्णन किया है, वैसे ही पन्त में भी वह मिलता है। किन्तु पन्त ने प्रेम के मानसिक पहलू को भी स्वीकार किया है, स्वीकार ही नहीं किया उसको यथेष्ट महत्व और विस्तार भी दिया है, जिसका विवेचन उपर

किया जा चुका है । एक बात ध्यान देने योग्य है । उत्तरा में जो प्रेम की शारीरिकता है, वह अप्रस्तुत रूप से आई है । प्रस्तुत के प्रायः सर्वत्र नवीन चेतना और धीरता का मिलन ही है । पन्त ने अनेक स्थानों पर धरती को रमणी के रूप में चित्रित किया है जो देवों (नव मानवों) के उपभोग के लिए अपना वक्षस्थल खोल रही है । 'भूस्वर्ग' में कवि लिखता है—

वह मिट्टी की शय्या में जग
भरती प्रकाश में अँगड़ाई,
मुकुलित अङ्गों से फूट रही
उन्मत्त स्वर्ग की तरुणाई ।
वह देवों के उपभोग हेतु
मिथ खोल रही निज वक्षस्थल,
उसके प्राणों का हरित तिमिर
जीवन में निखर रहा उज्ज्वल ।

पृ० ७४

यहां धरती मिट्टी में सोई हुई रमणी के समान है । अब वह रमणी जाग रही है और उसके प्रफुल्ल अङ्गों में स्वर्गीय सुषुमा उमड़ रही है । अब वह देवताओं के उपभोग के लिए अपना वक्षस्थल खोल रही है । एक नायिका भोग के लिए आकुल हो उठी है । इस वर्णन में जो घोर शारीरिकता है वह निस्सन्देह अरलीलता की हद तक जा पहुँची है । यथार्थवादी इससे भी अधिक नग्न-चित्रण को साहित्य की स्वाभाविक विशेषता मानेंगे । किंतु उप-उपयुक्त उद्धरण में यह चित्र तो साधन मात्र है । साध्य है धरती में नवीन चेतना के उदय का वर्णन । धरती का मिट्टी की शय्या पर सोना वर्तमान भौतिकता की प्रधानता का प्रतीक है । नवीन यौवन, नवीन संस्कृति का प्रतीक है । देवों के उपभोग के लिये वक्षस्थल का खोलना, मानव जीवन की नवीन सुखानुभूति का प्रतीक है । किंतु नवीन युग के इस चित्रण को त्याग कर कवि दूसरे प्रकार से भी उसका चित्रण कर सकता था । और वही श्लाघ्य भी होता । कहीं-कहीं तो यह ऐन्द्रिकता प्रधान हो गई है और व्यंग्य चेतना का विषय गौण हो गया है । उदाहरण के लिए नीचे के दोनों उद्धरणों में—

लिपटे भू के जघनों से घन
 प्राणों की ज्वाला जन मादन,
 नाभि गर्त में घूम भंवर सी
 करे मर्म आकाँक्षा नर्तन ।
 अग्नि गर्भ उर के शिखरों पर
 उतरे सूर आनन्द ज्यों निरवर,
 अन्तर्जीवन के वैभव से
 मुकुलित हों जगती के दिशि क्षण ।
 भू प्रौगण—पृ० ४६

अथवा—

वह हरी मखमली चोली में
 बाँधे मुकुलों के स्वप्न शिखर,
 तुम उन पर निज चेतना रश्मि
 बरसाओ, वे नव उठें निखर ॥
 फूलों की शय्या पर लेटा
 मधु से गुंजित उसका यौवन,
 तुम उसके कंपित अधरों पर
 धर दो प्रकाश का चिर चुम्बन ।
 कामना लता उसकी बाहें
 कंपती पल्लव पुलकित थर थर,
 तुन भू रज के परिरंभण में
 दो निखिल स्वर्ग का वैभव भर ।
 उसकी प्रथुश्रोणी में सोए
 शत ज्वाल गर्म निश्चल भूधर,
 जीवन का छायातप ओढ़े
 झेटे जिन पर भूजन सिर धर !

× +

+ ×

उसके जघनों के पुलिनों में

सोई शत झरनों की मर्मर,
उनमें प्राणों की बेला का
लहरा दो चंद्रज्वलित सागर

भू जीवन—५२, ५३

यहाँ चोली में बँधे स्तनों के शिखर, प्रकाश के चिर चुम्बन, कामना से काँपती हुई बाहों और परिरंभण पृथु श्रोणी और जघनों के पुलिनों के वर्णन के बिना ही नवीन चेतना का आगमन चित्रित किया जा सकता था। यहाँ स्पष्टतः इस ऐन्द्रिकता की तुलना रीतिकालीन काव्य से की जा सकती है। सूर-सागर के मिलन के चित्रों से भी इनकी समानता है। जिस प्रकार सूरदास के मिलन-चित्र भक्ति रस का उद्रेक नहीं करते उसी प्रकार पंत के ये चित्र नवीन चेतना की पावनता भी प्रतीति नहीं कराते। दोनों में ही शृंगार की अति मानी जाएगी जो साहित्य के उदात्त स्वरूप को चोट पहुँचाती है।

कुण्ठावादी (फ्रायडवादी) आलोचक यहाँ पंत की कुण्ठा की अभिव्यक्ति मानते हैं और पंत के विरोधी आलोचकों को तो पंत पर छुँटा कसने का बहाना मिल जाता है। बेचारा जीवन भर प्रेयसी के लिए तड़पता रहा और आखिर उसने सारी तड़प इन कविताओं में ही उतार दी। और इसके अतिरिक्त जो है, वहाँ उन विद्वान आलोचकों की विज्ञ दृष्टि ठहरती ही नहीं सम्भवतः उससे उन्हें कोई लगाव ही नहीं है। ऐसे विद्वान पंत के आलोचक ही नहीं, हिन्दी के आलोचना साहित्य के सच्चे पारखी भी माने जाएँगे। किन्तु सम्भवतः वह समय अभी बहुत दूर है। मैं यह नहीं कहता कि चित्रण की यह नग्नता दोष नहीं है। यह तो सर्वथा त्याज्य है। इतना जानते और मानते हुए भी यह देखा ही जाता है कि सभी काल के साहित्य में—भक्ति के साहित्य में भी—ऐसे चित्र लक्षित होते हैं। कुण्ठावादी आलोचकों के लिए सारा साहित्य ही कुण्ठा की अभिव्यक्ति है। कुण्ठा का यह नारा तो अपनी ही कुण्ठा से कुण्ठित हो जाता है।

६—ईश्वर और विनय

अब देखना यह है कि जीव-जगत और ईश्वर के सम्बन्ध में कवि के

विचार क्या हैं। सच्चिदानन्द की कल्पना के ऊपर हमारी बुद्धि नहीं जा सकती उससे अभिन्न शक्ति ही जगत और जीव के रूप में अभिव्यक्त होती है। जगत में उस शक्ति का एक अंश व्यक्त है और शेष अव्यक्त। इसी प्रकार जीव में भी उस शक्ति के कुछ गुण व्यक्त हैं और शेष अव्यक्त। नव मानव में शक्ति की अभिव्यक्ति अधिक पूर्ण होगी किन्तु व्यक्ति को उससे भी ऊपर जाना है जो ज्ञान द्वारा सम्भव है। इस प्रकार जहाँ तक भक्ति के अंश के आविर्भाव और तिरोभाव का प्रश्न है, अरविंद के इस सिद्धांत को वल्लभ के शुद्धाद्वैत के समकक्ष रखा जा सकता है। किन्तु इस आंशिक समानता के सामने विकासवाद के महान भेद को भुला नहीं देना चाहिए। इसके अतिरिक्त शक्ति की सत्ता और उसकी अभिव्यक्ति के सिद्धांत में भी महान भेद है।

अब पंत के ईश्वर सम्बन्धी विचारों का स्पष्टीकरण किया जाएगा। उत्तरा की भूमिका में पंत ने ईश्वर पर विश्वास की अनिवार्यता और आवश्यकता पर प्रकाश डाला है—

“आज के बुद्धिजीवी और साहित्यिक के मन में बहुत बड़ा संघर्ष तथा विरोध देखने को मिलता है। इसका कारण शायद यह है कि वह व्यक्ति और विश्व—अथवा समाज—के ही रूप में सोचता है, और व्यक्तिगत तथा सामूहिक क्रिया-प्रतिक्रियाओं के भीतर ही युग-समस्याओं (राजनीतिक-अर्थ में) तथा मानव जीवन की समस्याओं (सांस्कृतिक अर्थ में) का समाधान खोजता है; और कभी व्यक्ति से असंतुष्ट होकर समाज की ओर झुकता है, कभी समाज से खिन्न होकर व्यक्ति की ओर। मेरी समझ में इन दोनों विचारों पर उसे अपनी समस्याओं का समाधान नहीं मिलेगा। जो जीवन-मन-चेतना का तथा सूक्ष्म-स्थूल सत्य का प्रवाह व्यक्ति और समाज के तटों से टकराता है, उसे आप समग्र रूप से इस प्रकार नहीं समझ सकेंगे। आपको व्यक्ति और विश्व के साथ ही ईश्वर को भी मानना चाहिए, तब आप उसके व्यक्ति और विश्व रूपी संचरणों को ठीक-ठीक ग्रहण कर सकेंगे और जीवन-सौन्दर्य के अष्टा की तरह उन्हें प्रभावित कर सकेंगे। जिस अतल, अकूल सत्य के प्रवाह की चर्चा मैंने अभी की है, उसे आप कलाकार तथा सूक्ष्म-जीवी की दृष्टि से संस्कृति के रूप में देखिए।”

इसी प्रकार आदर्श और यथार्थ के भगड़े पर विचार करते हुए उसने कहा है—

“किन्तु यदि हम आदर्श तथा वस्तु को एक ही सत्य का, जो अव्यक्त तथा विकासशील होने के कारण दोनों से अतिशय तथा ऊपर भी है,—सूक्ष्म स्थूल रूप या बिंब-प्रतिबिंब मानलें तो दोनों दृष्टिकोणों में सहज ही सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है ।”

पृ० ८

तो क्या कवि यह चाहता है कि ईश्वर की मूर्ति रूप में पूजा की जाए पर उसकी प्राप्ति के लिए जप-तप आदि किया जाए ? इस बात को भी कवि ने स्पष्ट किया है—

“सत्ता के सम्पूर्ण सत्य को समझने के लिए हमें व्यक्ति तथा विश्व के साथ ईश्वर को भी मानना चाहिए । ईश्वर को मानने से मेरा यह अभिप्राय नहीं कि विधिवत् पूजा-पाठ अथवा जप-तप करें । यह तो धर्म का क्षेत्र है और आपके स्वभाव, रुचि तथा नाड़ियों के जीवन से सम्बन्ध रखने वाली बातें हैं ईश्वर को मानने का व्यावहारिक रूप में एक कलाकार के लिए इतना ही पर्याप्त समझता हूँ कि वह अव्यक्त के, सूक्ष्म के, अन्तर्चेतना के संचरणों से भी अपने को संयुक्त रखे और उनके प्रकाश, उनके सौन्दर्य तथा शक्तियों का उपयोग कर समाज के अन्तर्जीवन का निर्माण करे । उसके कंधों पर वास्तविकता तथा विवेक का ही भार न हो, वे स्वप्नों के बोझ से भी झुके रहें ।”

— गद्य-पथ (कला और संस्कृति) पृ० १०३, २०४

इस प्रकार पंत यह विश्वास करता है कि कवि को केवल संकुचित वर्तमान और यथार्थ से ही सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए, उसे आदर्श और भविष्य से भी अपना सम्बन्ध बनाए रखना चाहिए यथार्थ और आदर्श, वर्तमान और भविष्य—इनका उदय, विकास, परिवर्तन—किस ओर संकेत करते हैं, ये संकेत करते हैं किसी अव्यक्त सत्ता या शक्ति की ओर जो इस उदय, विकास और परिवर्तन का कारण है । जब तक इस अव्यक्त सत्ता को स्वीकार न किया जाएगा और जबतक यथार्थ और आदर्श को इसके संचरण या ‘अभिव्यक्तियाँ’ न माना जाएगा तब तक न तो यथार्थ और आदर्श की समस्या का हल ही हो सकता है और न ही कलाकार समग्र जीवन का विशद चित्र ही अंकित

कर सकता है ।

‘उत्तरा’ में अनेक स्थानों पर कवि इस सत्य के स्वरूप का उद्घाटन करता है । ‘सत्य’ में वह यथार्थवादियों और आदर्शवादियों से कहता है—

फिर भी यदि जड़ता तुमको प्रिय,

उनको चेतनता—दुख नितान्त ।

है सत्य एक,—जो जड़ चेतन,

क्षर अक्षर, परम, अनन्त सान्त ।

पृ० ८८

सत्य जड़ और चेतन दोनों हैं, वह क्षर भी है और अक्षर भी, वह सान्त भी है और अनन्त भी । यहाँ हमें रामानुज के ब्रह्म का सा रूप लक्षित होता है । ‘परिणति’ में धरती और स्वर्ग दोनों को ईश्वर के ही अंश बताता है—

दोनों तुम में पूर्ण हुए अब

बन मन काया,

बाहर भीतर ऊपर नीचे

पात्र तुम्हीं अभिन्य में ।”

पृ० १२८

यहाँ कवि ने धरती और स्वर्ग, वर्तमान और भविष्य दोनों को ही ईश्वर की अभिव्यक्ति माना है और वह ईश्वर को सर्वत्र व्यापक देखता है । यह वेदांत का ‘सर्व खल्विदं ब्रह्म’ अथवा ‘एकमेवाद्वितीयम्’ का ही नाद है । किंतु वेदांत के इस नाद के साथ-साथ विकासवाद का स्वर भी जुड़ा हुआ है, जिसे वेदांत से भिन्नता अथवा वेदान्त की नवीन व्याख्या कहा जा सकता है जो कवि को अरविन्द से प्राप्त हुई । विकासशील ईश्वर का रूप ‘अमर्त्य’ कविता में स्पष्ट है—

“तुम आए गए, जगत का छल,

तुम हो, तुम होगे, सत्य अटल,

रीता हो, भरे घरा अंचल,

तुम परे अचिर चिर से,—सुन्दर ।”

पृ० १४०

आने जाने में ब्रह्म का चेतन विकास स्पष्ट है । जगत की प्रवंचना, या भ्रम भी ईश्वर ही है । वह सनातन सत्य है जिसकी अभिव्यक्ति से धरती में संस्कृति का हास और विकास होता रहता है । वह चिर और अचिर दोनों से

परे है। यह ब्रह्म की अनिर्वचनीयता है जो उसका उच्चतम स्वरूप है। वह सुन्दर है। इस प्रकार यहाँ सच्चिदानन्द की स्थापना के साथ-साथ उसकी अनिर्वचनीयता भी स्वीकार की गई है। अरविन्द ने ब्रह्म को इन दोनों रूपों में स्वीकार किया है। उसका उच्चतम स्वरूप जहाँ तक मानव बुद्धि पहुँच सकती है, वह सच्चिदानन्द है। और उसका वास्तविक स्वरूप उससे भी ऊपर है जो मानव बुद्धि के क्षेत्र से बाहर की बात है और इसलिए अनिर्वचनीय है।

यह तो हुआ पन्त के ईश्वर का शास्त्रीय विवेचन जिसकी पुष्टि उत्तरा के उद्धरणों से की गई है। किन्तु क्या इतना ही पर्याप्त है? क्या इस सूक्ष्म अव्यक्त ब्रह्म भावना के विरुद्ध भी वैसी ही प्रतिक्रिया नहीं होगी जैसी शंकर के शुद्ध चैतन्य ब्रह्म के विरुद्ध हुई? पन्त ने इस बात को समझा है। सिद्धांत रूप में या प्राचीन शब्दावली का प्रयोग करते हुए कहे तो निर्गुण-निराकार रूप में ब्रह्म की स्वीकृति ही पर्याप्त नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने से भक्ति को अस्वीकार करना पड़ेगा। यह अस्वीकृति श्रद्धा और विश्वास के महत्व पर भी आघात पहुँचाएगी जो मानव की दिव्य विभूतियाँ हैं।

पन्त ने स्वयं भी कहा है कि आज के युग को एक सांस्कृतिक प्रतीक की आवश्यकता है। जिस प्रकार मध्ययुग की संस्कृति का पूर्ण परिपाक राम और कृष्ण के रूपों में हुआ—जो अपने युग का प्रतिनिधित्व कर उसे पूर्णता प्रदान करते थे, उस प्रकार आज के युग के सामने कोई आदर्श नहीं है। उत्तरा की 'स्तवन' कविता (पृ० ११६) में कवि ने एक ऐसे ही सांस्कृतिक प्रतीक को प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इस कविता में जिस भव्य मूर्ति का अङ्कन किया गया है, उसमें राम और कृष्ण के रूप का समन्वय लक्षित होता है। उसका रूप राम और कृष्ण के रूप के समान ही शक्तिशाली और विराट है, उसमें शोभा, क्षमा, गरिमा, प्रीति, करुणा आदि सभी दिव्य गुणों का साक्षात्कार होता है। उसके

“अधर प्रवालों पर चिर गुंजित

मौन मधुर स्मिति के मुरली स्वर।

भी हैं और उसके वरद कर में 'मृत्यु कलुष हर चारु धनुष शर' भी हैं। वह विश्व हृदय के कमल पर सुशोभित हृदयेश्वर, जगदीश और परात्पर है। कमल

पर स्थिति ब्रह्मा के रूप की भी व्यंजना यहाँ होती है। वह नित्य ही सृजन, नृत्य और उल्लास में निरत रहता है। कवि उसका यश गान करता हुआ प्रार्थना करता है—

“जय पुरुषोत्तम, प्रणत प्राण मन
नयनों में भर रूप मनोहर,
चिर श्रद्धा विश्वास भक्ति का,
मंगलमय, निज जनको दो बर।”

पृ० १२०

अब पन्त की विनय (भक्ति भावना) के स्वरूप पर प्रकाश डाला जाएगा तथा इस दृष्टि से उसकी तुलना कवियों से की जाएगी। ‘स्तवन’ कविता में ईश्वर का मूर्त्त रूप मुखर हुआ है और उससे श्रद्धा, विश्वास और भक्ति का वरदान माँगा गया है। भक्तिकाल में भी कवियों ने भगवान के वरद सुखद रूप को वर्णन किया है और उससे अटल भक्ति का वरदान माँगा है। तात्त्विक दृष्टि से देखने पर तुलसी या सूर की विनय भावना और पन्त की विनय-भावना में कोई भेद नहीं है। जिस प्रकार भक्ति कवियों की भक्ति-भावना केवल स्वार्थपरक नहीं है और समाज के कल्याण की भावना को भी लिए चलती है उसी प्रकार पन्त की भक्ति भावना में भी लोक-कल्याण की भावना का पूरा-पूरा समावेश है। ईश्वर से लोक-कल्याण की प्रार्थना का यह अभि-प्राय कभी भी नहीं लगाना चाहिए कि मनुष्य कर्म की शक्ति पर अविश्वास करता है। कर्म पर अविश्वास प्रकारान्तर से ईश्वर पर भी अविश्वास का ही सूचक है। भक्तिकाल के कवियों की विनय भावना की एक प्रधान विशेषता है भक्त के परम दैन्य का चित्रण और भगवान के परम माहात्म्य का उद्घाटन। दोनों बातें पन्त में लक्षित होती हैं। ‘स्तवन’ में उसने भगवान के माहात्म्य का विशद वर्णन किया है। किन्तु पन्त ने अपने अपने आपको वैसा लुद्ध और पापी नहीं बताया जैसा भक्तिकाल के कवियों ने लिखा है। तुलसी राम से सम्बोधन करके कहते हैं—

राम से बड़ो है कौन मोसो कौन छोटो ।

राम से खरो है कौन मोसो कौन खोटो ॥

पन्त ने भी 'विनय' कविता में ऐसे ही भाव व्यक्त किए हैं—

मैं मर्त्य बेणु का शून्य बाँस
तुम दिव्य साँस
मैं छिद्र भरा निःस्वर निराश
तुम गीति लास ;
मैं शुष्क, सरस कर दो विकास,
मैं रिक्त, पूर्णकर भर दो,
नव आशाऽभिलाष
स्वर संगति दो ।

पृ० १२३

ईश्वर पर विश्वास करने वाला व्यक्ति विपत्ति के समय उसका स्मरण कर शक्ति और प्रेरणा प्राप्त करता है । पन्त भी जब सांसारिक विपत्तियों से घबरा जाता है तो ईश्वर का ध्यान करता है । 'जगत धन' में उसने कहा है—

जब जब घिरे जगत धन मुझ पर
करूँ तुम्हारा चिन्तन,
ढँक जावे जब अन्तर्नभ में
करूँ प्रतीक्षा गोपन !
जब तम की छाया गहरावे
मानस में संशय लहरावे
युग विषाद का भार वहन कर
तुम्हें पुकारूँ प्रतिक्षण ।”

पृ० २१

इस हृदय की निराशा कवि के मन को दैवी शक्ति की ओर उन्मुख करती है । किन्तु यह निराशा व्यक्तिगत नहीं है । इसका उद्देश्य अपनी आत्मा की मुक्ति नहीं है । और यही भक्तिकालीन कवियों और पन्त में भेद है जिसकी ओर पहले भी संकेत किया जा चुका है । पन्त की निराशा का कारण संसार की कष्ट परिस्थिति है और उसका साध्य भी जगत का कल्याण है । जब-जब कवि संक्रांतिकाल की विभीषिका से आक्रांत होता है, वह युग के विषाद को धारण करते हुए ईश्वर का ध्यान करता है—युग की उपेक्षा करके नहीं ।

आगे कवि संसार के दुखों के शमन की कामना करता है—

तुम्हें करूँ जन मन दुख अर्पण,
आत्म दान दे भरूँ घरा ब्रण,
भू विषाद गर्जन से, उर में
बरसैं नव चेतन कण ।

पृ० २१

पन्त की विनय ईश्वर के प्रति भी है और नवीन चेतना के प्रति भी । कवि नवीन चेतना को दैवी शक्ति के रूप में स्वीकार करता हुआ उससे जन-मंगल की कामना करता है । विनय के अधिकांश गीत नवीन चेतना के प्रति ही है । नवीन चेतना का आह्वान करता हुआ कवि उससे जनता के अन्धकार को मिटा देने की प्रार्थना करता है—

तुम स्वर्ण चेतना पावक से
फिर गढ़ो आज जग का जीवन
मधु के फूलों की ज्वाला से
रँग धरणी के उरका यौवन !
आदर्शों का जलता प्रकाश
तुम दो उँडेल भू अंचल में
स्वप्नों की लपटों में लिपटा
मनके अधियाले को पल में ।

—आवाहन पृ० ६५

पन्त की विनय भावना में गीता का निष्काम कर्मयोग की भी स्वीकृति हुई है । इस प्रकार पन्त में हमें भक्ति और कर्म का समन्वय मिलता है । नवीन संस्कृति में नवीन चेतना और ज्ञान का उदय होना तो स्वाभाविक ही है । इस प्रकार पन्त में ज्ञान, भक्ति और कर्म का समन्वय हुआ है । 'युगदान कविता में कवि में इन तीनों का समन्वय किया है—

आनन्द तुम्हारा बरस सके
भव व्यथा क्लान्त उर के भीतर,
जग-जीवन का वन सके अंग
देवत्त तुम्हारा लोकोत्तर ।

करुणा धारा से मानव का,
भू निर्मम अन्तर हो उर्वर,
संयुक्त कर्म जग-जीवन के
तुमको अर्पित हों उठ ऊपर !

× × × ×

यह अन्धकार का घोर प्रहर
हो रहा हृदय चेतना द्रवित,
फिर मानवीय बन जाग रही
जड़ भूत शक्तियाँ अभिशापित

पृ० ७८-७९

प्रथम छन्द में कवि विनम्र कामना प्रकट करता है। द्वितीय छन्द की अन्तिम दो पंक्तियों में कर्मयोग की ध्वनि है। गीता में भगवान ने अर्जुन को यह आदेश दिया है कि वह अपने सभी कर्म भगवान को अर्पित कर दे। इस प्रकार वह उनके फल-बन्धन से मुक्त हो जाएगा। इसी प्रकार पन्त भी कामना करता है कि समाज के कर्म उन्नत होकर भगवान को अर्पित हों। अन्तिम छन्द में अन्धकार के गलने और चेतना के उदय में ज्ञान के प्रकाश का चित्रण है।

७—रस का अभाव क्यों ?

आज के हिन्दी के आलोचना जगत में साहित्य की दो परिभाषाएँ बहुत अधिक मान्य हैं। प्रथम है 'वाक्यं रसात्मकं काव्यं' और दूसरी है 'साहित्य-जीवन की आलोचना या व्याख्या है।' किन्तु खेद का विषय है कि किसी भी विद्वान् ने इन दोनों ग्राह्य और गृहीत परिभाषाओं में सामंजस्य स्थापित करने का सावध्य प्रयास नहीं किया। वास्तव में अभी तो हिंदी में साहित्यालोचन के सिद्धान्तों का विकास और परिमार्जन होना है। आज हमारे पास एक ओर तो संस्कृत के काव्य शास्त्र की गौरवशाली सम्पत्ति है और दूसरी ओर पश्चिम का संपूर्ण आलोचन शास्त्र है। हिन्दी की प्रवृत्तियों तथा आकाँक्षाओं के अनुरूप उसके आलोचना के मानदण्डों का निर्धारण होना है। कभी तो आलोचक संस्कृत के मानदण्डों पर ही किसी रचना को तोलता है और कभी पश्चिम

के आलोचना संप्रदायों की छाया में उसका अध्ययन करता है। यहाँ इस विषय पर विस्तार पूर्वक लिखने का अवसर नहीं है, तो भी उत्तरा के यथार्थ महत्व को समझने के लिए हमें उपर्युक्त साहित्य की दोनों परिभाषाओं के बीच सामंजस्य करने का प्रयास तो करना ही पड़ेगा।

सब से पहला प्रश्न तो यह उठता है कि क्या साहित्य की इन दोनों परिभाषाओं में विरोध है ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति किसी एक परिभाषा को अक्षरशः ग्रहण करने का प्रयास करेगा उसके लिए स्वभावतः ही दोनों में विरोध होगा। ऐसी दशा में साहित्य की रसात्मकता ही उसके समग्र रूपों और अनेक रूप विद्याओं के सही मूल्यांकन में पूरी-पूरी सहायता नहीं देगी। साहित्य के बौद्धिक पक्ष का पूर्ण निराकरण करना पड़ेगा, चाहे वह जीवन की आलोचना या व्याख्या ही प्रस्तुत करे। किन्तु यदि सूक्ष्म दृष्टि से इन दोनों परिभाषाओं को समझाए तो इस विरोध का प्रश्न नहीं उठता। जब हम यह कहते हैं कि साहित्य जीवन की आलोचना है तब स्पष्टतः साहित्य में बौद्धिकता को प्राधान्य मानना पड़ेगा क्योंकि आलोचना में तो विश्लेषणात्मक बुद्धि ही प्रवृत्त होती है। किन्तु यदि हम साहित्य को जीवन की व्याख्या कहें तो दोनों परिभाषाओं में सहज ही सामंजस्य स्थापित हो सकता है। मनुष्य की दो शक्तियाँ बुद्धि और हृदय हैं। इस प्रकार साहित्य जीवन की भावात्मक व्याख्या भी कर सकता है और बौद्धिक भी। और दोनों प्रकार की रचनाएँ साहित्य ही कहलाएँगी। इसके साथ ही साथ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जीवन की भावात्मक व्याख्या में रस-सिद्धान्त की गति है किन्तु जीवन की बौद्धिक व्याख्या में रस-सिद्धांत की गति नहीं या बहुत कम है। आज साहित्य में मनोवैज्ञानिक चित्रण की प्रधानता हो रही है। स्पष्टतः यह भावात्मक नहीं है। तो क्या हम ऐसे उपन्यासों, कहानियों या निबन्धों को साहित्य नहीं मानेंगे जहाँ जीवन का मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण पर बल देते हैं। जब साहित्य में मनोवैज्ञानिक बौद्धिक चित्रण किए जा सकते हैं तो उनका साधारणीकरण क्यों नहीं हो सकता ? वास्तव में साहित्य की बौद्धिकता की कसौटी तो एक है। और वह है बुद्धिगत साधारणीकरण जिस प्रकार वही भावात्मक गीत सफल माना जाता है जो समाजिक

को अपने भाव की अनुभूति करा देता है। उसी प्रकार वही बौद्धिक रचना उत्कृष्ट मानी जाएगी जो अपने बौद्धिक दृष्टिकोण का औचित्य सामाजिक के मस्तिष्क में अङ्कित करने में समर्थ होगी। जिस प्रकार अनौचित्य के कारण भावात्मक साधारणीकरण नहीं होता इसी प्रकार ही एकांगित या शिथिलता-जन्य औचित्य के कारण बौद्धिक साधारणीकरण नहीं होता है। साधारणीकरण के दोनों ही रूपों का मूल है अनौचित्य का अभाव या समत्व। समत्व ही साहित्य का प्राण है जो किसी भी रचना में भाव या बुद्धि का साधारणीकरण करवाता है। बुद्धिगत साधारणीकरण के विरुद्ध यह तर्क उठाना कि यह भारतीय काव्य-शास्त्र परंपरा में नहीं था, एक बचपना मात्र है। जो प्राचीन भारत में नहीं था, यदि उसे श्रवाचीन भारत में भी अस्वीकार कर दिया जाए तो ?

उत्तरा की रचनाओं में भाव का साधारणीकरण नहीं हुआ है। फिर भी वह साहित्य है। क्योंकि उसमें जीवन की व्याख्या हुई है। उसका वर्णन-विषय जीवन है। हाँ यह बात अवश्य है कि कवि ने जीवन के प्रति भावात्मक नहीं बौद्धिक दृष्टिकोण रखा है। पन्त ने यह कहा है कि “साहित्य का क्षेत्र अन्तर्जीवन का क्षेत्र है। साहित्य का सम्बन्ध मानसिक उत्कर्ष से, सांस्कृतिक अभ्युत्थान से है चेतना के उन्नयन से है। इस प्रकार साहित्य को जीवन से ऊर्ध्वतल पर सम्बन्ध कर के पन्त ने जीवन को अपनी रचनाओं में जिस रूप में उतारा है, उसका साधारणीकरण बहुत हद तक होता है। क्योंकि पन्त के दृष्टिकोण का आधार समत्व है। पन्त को बिल्कुल अरविन्दवादी मान लेना अनुचित होगा। अरविन्द दर्शन की सूक्ष्म चिन्ताओं को पन्त ने अपने काव्य का विषय नहीं बनाया है। उसने नवीन चेतना की बात अवश्य स्वीकार की है।

अब देखना यह है कि पन्त के विचारों का किस हद तक साधारणीकरण होता है। पन्त विकासवाद में विश्वास रखता है और आने वाले युग में मनुष्य की बहिरंतर उन्नति की कामना करता है। यह आज के युग की आकांक्षा है और अतीत भी इस सत्य का साक्षी है। सदैव ही मानव जाति में विकास होता रहा है और आज भी होगा। यह नहीं कहा जा सकता है कि सारे विश्व में

नवीन संस्कृति का आविर्भाव कितनी देर बाद होगा किन्तु वह होगा अवश्य । इतनी सम्भावना तो प्रकट की जा सकती है कि नवीन संस्कृति का आविर्भाव होने में बहुत देर नहीं है क्योंकि विज्ञान के युग में प्रगति की होड़ बहुत द्रुत है । जब मनुष्य अणुशक्ति का सृजन के लिए उपयोग करना सीख लेगा, और जब यह उपयोग एकदेशीय न रह कर विश्व जनीन हो जाएगा, संसार में एक नवीन संस्कृति का जन्म होगा । किंतु क्या यह अनिवार्य है कि इस भौतिक युगान्तर के साथ-साथ मानसिक अवस्था में भी उन्नयन होगा ? इस बात के विषय में पंत की विचारधारा से मतभेद हो सकता है । सभी मनुष्यों के लिए मानसिक समानता का दावा करना मार्क्सवाद के दावे के समान ही अप्रत्याशित प्रतीत होता है । मनुष्य के विषय में यह भी नहीं कहा जा सकता कि आज की अपेक्षा कल वह आत्मिक क्षेत्र में आगे ही बढ़ेगा । वह गिर भी सकता है । हाँ इतना अवश्य कहा जा सकता है कि आने वाले अणु-शक्ति के युग में मनुष्य में आज की सी लुप्तता और संकीर्णता नहीं होगी । उसका हृदय अधिक उदार और मस्तिष्क अधिक तीव्र हो सकता है । किंतु हृदय की यह आत्मा और मस्तिष्क की यह तीव्रता सभी मनुष्यों में समान होगी यह संभव नहीं है । व्यक्ति और व्यक्ति के बीच का मानसिक स्तरों का भेद मिटना असंभव प्रतीत होता है । चाहे पंत के इस सिद्धान्त को पूर्ण रूप से स्वीकार न किया जाए, फिर भी उसके बौद्धिक दृष्टिकोण का प्रधान अंश मान्य और ग्राह्य है । बुद्धिगत साधारणीकरण की पूर्णता का अभाव साहित्य के उत्कर्ष पर आघात नहीं पहुँचाता । आज के युग में कबीर और तुलसी के बुद्धि पक्ष का पूर्ण साधारणीकरण संभव नहीं है किंतु फिर भी उनकी सामाजिक चेतना का महत्त्व कम नहीं होता ।

उत्तरा की रचनाओं के विषय में यह भी नहीं कहा जा सकता कि उसमें हृदय का पूर्ण अभाव है । प्रेम और वियोग की कविताओं में भाव की तीव्रता लक्षित होती है । इसके साथ-साथ संक्रांति काल की विभीषिका के चित्रण में भी दुःख और क्षोभ की अनुभूति होती है । विनय के गीतों में भक्ति का उद्रेक होता है । नीचे के उदाहरणों से इस कथन के सत्य की परीक्षा की जा सकती है—

वियोग

“प्रेयसि की मुख छवि मेघ मुक्त,
शशि रेखा सी उगती मन में,
नीरव नभ में विद्युत धन सी
एकाकी स्मृति जगती क्षण में !
ज्योत्स्ना में झंझा से कंपित
हलकी फुहार सी पड़ती भर
वह भीगी स्मृति, मानस तट पर
छाया लहरी सी बिखर-बिखर !”

स्मृति पृ० १११

वर्त्तमान की विभीषिका

जब हृदय दाह से
कंपती धरती थर-थर
जब प्रलय ज्वार में
पुलिन डुबाता सागर
लहरों के शिखरों पर
करते नर्तन हो !
जग जीवन आज बना
स्वार्यों का प्राँगण,
जीवन की सार्धें
कर उठती वन-रोदन
अंतर कराहता—
अब युग परिवर्तन हो !

प्रगति—पृ० ३५

भक्ति

मुझे प्रणति दो
प्रीति समर्पित प्राण कर सकूँ,

निज पद रति दो !
 विनय मुक्त, जन में मिल जाऊँ,
 श्रद्धानत, ऊपर उठ पाऊँ,
 अन्तर्गति दो
 मैं मर्त्य वेणु का शून्य बांस
 तुम दिव्य साँस,
 मैं छिद्र भरा निःस्वर निराश
 तुम गीतिलास,
 मैं शुष्क, सरस कर दो विकास,
 मैं रिक्त, पूर्ण कर भर दो
 नव आशा द्रमिलाष,
 स्वर संगति दो !

विनय—पृ० १२३

भक्ति के इस उदाहरण को तुलना सूर और तुलसी के विनय के पदों से की जा सकती है। इसका एक महत्वपूर्ण फल यह भी होगा कि विद्यार्थी भक्तिकालीन कला और वर्तमान कला के भेद को भी भली भाँति समझ लेंगे। यह ठीक है कि यहाँ सूर और तुलसी जैसी भाव की गंभीरता नहीं है, किंतु सरसता अवश्य है जो हृदय को प्रभावित करती है।

८—प्रगतिवादी या प्रतिक्रियावादी ?

अब एक यह महत्वपूर्ण प्रश्न सामने आता है। कई आलोचकों ने पन्त को प्रतिक्रियावादी माना है। उनका कहना है कि 'युगवाणी', 'ग्राम्या' में पंत प्रगतिवादी बनकर भी फिर भयभीत होकर स्वर्णकाव्य और उत्तरा की नवीन चेतना में पलायन कर गया है। पन्त को प्रतिक्रियावादी कहने वाले आलोचक मार्क्सवादी हैं और यह समझते हैं कि मार्क्सवाद ही प्रगतिवाद है और जो कुछ मार्क्सवाद से भिन्न है वह सब प्रतिक्रियावाद है। स्पष्ट है कि साहित्य के क्षेत्र में इस प्रकार की यौत्त्रिक धारणाएँ और रूढ़ मान्यताएँ कोई मूल्य नहीं रखतीं। किंतु फिर भी हिन्दी साहित्य में इधर मार्क्सवादी

आलोचकों की वाद सी आरही है जिनमें से कई रटे रटायें सूत्रों में साहित्य को बाँध देना चाहते हैं। मार्क्सवादी आलोचकों में ही कुछ उदार तथा सहिष्णु विद्वान भी हैं जो अन्य मार्क्सवादियों द्वारा प्रतिक्रियावादी ठहराए जाते हैं। इधर प्रगतिवाद और मार्क्सवाद का समान अर्थ में प्रयोग रूढ़ सा हो गया है जिसके कारण साहित्य के विद्यार्थी को विशेष कठिनाई का सामना करना पड़ता है। प्रगतिवादी (मार्क्सवादी) आलोचकों में ही कई खेमे और मत हैं जिनमें से कुछ वास्तविकता के निकट हैं और कुछ मार्क्सवाद। कुछेक मार्क्सवादी आलोचक तो ऐसे हैं जो मार्क्सवाद का थैला लिए चलते हैं और जो सिद्धान्त उनके थैले में नहीं समाता उसे पलायन के गढ़ में फँक देते हैं। कम्युनिस्ट पार्टी के निस्संकोच पूर्ण समर्थन के कारण ऐसे कुछ आलोचकों का जोर बढ़ता जा रहा है। उनके पीछे कम से कम जनशक्ति तो है ही, इसलिए जनतन्त्रवाद के इस युग में पन्त पर किये गए उनके आक्षेपों पर भी विचार कर लेना चाहिए। इन आलोचकों का आदर्शवाद से बैर है। इनके लिए आदर्शवाद और पलायनवाद पर्याय है, तथा मार्क्सवाद और प्रगतिवाद पन्त ने उत्तरा की भूमिका में अपने मत का स्पष्टीकरण किया है—

“हमारे कतिपय प्रगतिशील विचारक प्रगतिवाद को वर्ग युद्ध की भावनाओं से सम्बन्ध साहित्य तक ही सीमित रखना चाहते हैं, उन्हें इस युग की अन्य सभी प्रकार की प्रगति की धाराएँ प्रतिक्रियात्मक, पलायनवादी, सुधार-जागरणवादी तथा युग्मचेतना से पीड़ित दिखाई देती हैं। ये आलोचक अपने साँस्कृतिक विश्वासों में मार्क्सवादी ही नहीं अपने राजनीतिक विचारों में कम्युनिस्ट भी हैं। मैं मार्क्सवाद की उपयोगिता एक व्यापक समतल सिद्धान्त की तरह स्वीकार कर चुका हूँ। किंतु साँस्कृतिक दृष्टिकोण से उसके रक्तक्रान्ति और वर्ग युद्ध के पक्ष को मार्क्स के युग की सीमायें मानता हूँ, जिसकी ओर मैं ‘आधुनिक कवि’ की भूमिका में इङ्गित कर चुका हूँ। अपने प्रगतिशील सहयोगियों की इधर की आलोचनाओं को पढ़ने से प्रतीत होता है कि वे मेरी रचनाओं से लुब्ध हैं और उनके लिखने के ढङ्ग से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वे अभी व्यक्तिगत आक्षेप, तुलनात्मक स्पर्धा तथा साहित्यिक विद्वेष से मुक्त नहीं हो सके हैं, जो अवश्य ही चिन्त्य तथा अवाञ्छनीय है।” पृ० २,३

जहाँ तक आदर्श और यथार्थ का प्रश्न है पंत भी आदर्शोन्मुख यथार्थ-वाद को स्वीकार करता दिखाई देता है, यद्यपि यह सत्य है कि उसने दोनों का सूक्ष्म अव्यक्त चेतना के दो सञ्चरण मानकर दोनों की एकरसता स्थापित करने की चेष्टा की है। उत्तरा की भूमिका के नीचे के उद्धरण से दोनों बातें स्पष्ट हो जाती हैं—

“मैं केवल आदर्शवाद का ही पक्ष नहीं ले रहा हूँ, वस्तुवादियों के दृष्टि-कोण की भी उपयोगिता स्वीकार करता हूँ ; वास्तव में आदर्शवाद, वस्तुवाद, जड़-चेतन, पूर्व-पश्चिम आदि शब्द उस युग चेतना के प्रतीक अथवा उस सम्यता के विरोधाभास हैं जिसका संचरण वृत्त अब समाप्त होने वाला है। आदर्शवाद द्रष्टा या ज्ञाता का दृष्टि बिन्दु है, जो आदर्श को प्रधान तथा सत्य मानता है और वास्तविकता या यथार्थ को उसका बिम्ब रूप, जिसे आदर्श की ओर अग्रसर या विकसित होना है। यह स्पष्ट ही है कि यथार्थ की गतिविधि या विकास के पथ को निर्धारित करने के लिए आदर्श का बोध या ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। तथोक्त वस्तुवाद कर्त्ता या कर्मों का दृष्टिकोण है जिसके लिए गोचर वस्तु हो यथार्थ तथा प्रधान है, आदर्श उसी का विकास या परिणित। वस्तु से उसके विधायक या निर्माता का सम्बन्ध होने के कारण वह उसकी यथार्थता को अपनी दृष्टि से ओझल नहीं होने देता एवं उसी को सत्य मानता है। किंतु यदि हम आदर्श तथा वस्तु को एक ही सत्य का, जो अव्यक्त तथा विकासशील होने के कारण दोनों से अतिशय तथा ऊपर भी है सूक्ष्म स्थूल रूप या बिम्ब प्रतिबिम्ब मान लें तो दोनों दृष्टिकोणों में सहज ही सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है, और आदर्श तथा वस्तुवादी, अपनी अपनी उपयोगिता तथा सीमाओं को मानते हुए, विश्वकर्म में परस्पर सहायक की तरह हाथ बंटा सकते हैं। विनय, आत्मत्याग, सच्चाई सहानुभूति अहिंसा आदि व्यवहारिक आदर्शों को अपनाकर—जो मनुष्यतत्त्व की परिचायक, सनातन सामाजिक विभूतियाँ हैं—दोनों शिविरों का संयुक्त कर्म भूनिर्माण के कार्य को अधिक परिपूर्ण रूप से आगे बढ़ा सकता है।”

पृ० ८

‘आज की कविता और मैं’ में पंत ने लिखा है कि प्रगतिवाद का जन्म छायावाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के फलस्वरूप हुआ, जिसका उद्देश्य हुआ

समाज कल्याण । किन्तु प्रगतिवाद इतने व्यापक परिवर्तन को न तो ठीक प्रकार समझ ही सका और न ही उसकी अभिव्यक्ति ही कर सका । प्रगतिवाद के विषय में पन्त ने कहा है—

“काव्य की दृष्टि से उसका सौन्दर्यबोध पूँजीवादी तथा मध्यवर्गीय सौन्दर्य भावना की प्रतिक्रिया से पीड़ित रहा, उसका भावोद्देश किसी जनवादी यथार्थ तथा जीवन सौन्दर्य को बाणी देने के बदले केवल धनपतियों तथा मध्यवृत्ति वालों के प्रति विद्वेष तथा विद्वोष प्रकट करता रहा । नवीन लोक मानवता की गंभीर सशक्त चेतना के जागरण गान के स्थान पर उसमें नंगे भूखे श्रमिक कृषकों के अस्थि-पंजरों के प्रति मध्यवर्गीय आत्मकुंठित बुद्धिवादियों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का हूँकार भरा क्रंदन सुनाई पड़ने लगा । विचार दर्शन की दृष्टि से, वह नवीन जन भावना को अभिव्यक्ति न दे सकने के कारण केवल कुछ तत्कालिक परिस्थितियों के कोरे राजनीतिक नारों को बार-बार दुहराकर उनका पिष्टपेषण करता रहा । समीक्षा की दृष्टि से, अधिकांश प्रगतिवादी आलोचक साहित्य चेतना के सरोवर तट पर राजनीतिक प्रचार का झंडा गाढ़े, ऊपर ही ऊपर हाथ पोंव मारकर आगों में तैरने का सुख लूटते रहे हैं और छिछले स्थलों से कीचड़ उछालते हुए काव्य की आत्मा को तोड़-मरोड़कर नव-दीक्षितों को दिग्भ्रान्त करते रहे हैं ।”

गद्यपद्य पृ० १३५

अब प्रश्न यह होता है कि साहित्य का स्वरूप क्या हो ? ‘साहित्य की चेतना’ में पन्त ने कहा है—

“अतएव वह साहित्य जो संप्रति मानव जाति की अन्तरतम एकता के सिद्धान्तों से अनुप्राणित है, मानव जाति के विभिन्न श्रेणी वर्गों तथा संप्रदायों के बीच के व्यवधानों को हटाने के लिए प्रयत्नशील है, जो मानव के विश्व सम्मेलन के लिए नवीन नैतिक दृष्टिकोण नवीन सौन्दर्यबोध तथा नवीन सांस्कृतिक उपादानों का सृजन कर रहा है, वही प्रगतिशील साहित्य वास्तव में इस युग के साहित्य का प्रतिनिधित्व कर रहा है ऐसा साहित्य पिछले युगों के समस्त वाङ्मय में जो कुछ भी संग्रहणीय है उसका सम्पूर्ण उपयोग करने के साथ ही उन नवीन जीवन मानों तथा सूक्ष्म अनुभूतियों पर भी प्रयोग कर

रहा है जिसके समावेश से इस युग की भाप, बिजली और अणुशक्ति से अति सक्रिय परिस्थितियाँ एक सार्वभौम मानवीय सौन्दर्य से स्थापित हो तथा उनमें एक व्यापक सामाजिक सामंजस्य स्थापित हो सके ।”

गद्यपथ—पृ० २०७

पन्त के इन सभी विचारों को पढ़ लेने के पश्चात् उसका दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है और यह भी समझ में आ जाता है कि कौन लोग उसे प्रतिक्रियावादी कहते हैं। उपर्युक्त प्रथम उद्धरण में पन्त ने प्रगतिवादी साहित्य का उल्लेख किया है और द्वितीय उद्धरण में प्रगतिशील साहित्य का। प्रगतिवादी साहित्य को मार्क्सवादी साहित्य भी कहा जा सकता है। इस प्रकार प्रगति-कामी साहित्य के दो रूप हो जाते हैं। १—प्रगतिवादी साहित्य जो मार्क्स-वाद को पूर्णतः स्वीकार करता है और २—प्रगतिशील साहित्य जो मार्क्सवाद में न वैधकर सभी सिद्धान्तों की उपयोगिता को स्वीकार करके चलता है। उत्तरा की रचनाएँ प्रगतिवादी (मार्क्सवादी) नहीं हैं किन्तु वे प्रगतिशील अवश्य हैं।

पन्त ने आदर्शोन्मुख यथार्थ की बात को प्रेमचन्द और प्रसाद भी स्वीकार करते थे। किन्तु जैसा कि मैं अपनी पहली पुस्तक ‘सुमित्रा नन्दन पंत में’ लिख चुका हूँ कि आदर्शोन्मुख यथार्थवाद एक नए नाम के गढ़ने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि आदर्श और यथार्थ प्रगति के दो पहलू हैं। कलाकार आदर्श के सुरम्य चित्रण के द्वारा सामाजिक को उसकी ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है और यथार्थ का करुण उद्घाटन कर उसे दूर हटने को सन्नद्ध करता है। बिना आदर्श के प्रगति अंधी, उसकी दिशा निर्धारित नहीं है, और बिना यथार्थ के वह खोखली है, उसमें स्थायित्व का अभाव है। यदि आदर्शोन्मुख यथार्थवाद स्वीकार किया जा सकता है तो क्या यथार्थोन्मुख आदर्शवाद स्वीकार नहीं किया जा सकता? कोरा यथार्थ और कोरा आदर्श टिक ही नहीं सकते। एकांतिक रूप में तो वह जीवन से सम्बद्ध ही नहीं रह सकते और यह उनका दुष्प्रयोग ही होगा। किन्तु विवेकशील कलाकार में यथार्थ और आदर्श दोनों ही प्रगति की प्रेरणा देते हैं। यथार्थवाद की प्रेरणा ध्वंसात्मक है और आदर्श की सृजनात्मक। उत्तरा की रचनाओं की

समीक्षा से इस सिद्धान्त को भली भाँति समझा जा सकता है। उत्तरा में कोरे आदर्श का ही चित्रण नहीं हुआ है, उसमें यथार्थ का संक्रान्तिकाल का भी वर्णन हुआ है। 'युग संघर्ष' में दोनों पक्षों का चित्रण हुआ है। वर्तमान-काल का वर्णन करता हुआ कवि कहता है—

धनिकों श्रमिकों का स्वरूप घर बाहर
हास शक्तियाँ आत्म नाश हित तत्पर;
क्षौभ भरे युग शिखर उमड़ते दुर्धर
टकराता भू ज्वार, लुब्ध भवसागर !
नृत्य कर रही क्रान्ति रक्त लहरों पर
घृणा द्वेष की उठी आधियां दुस्तर !
कौन रोक सकता उद्वेग प्रलयकर,
मर्त्यों की परवशता, मिटते कट मर !

महा सृजन की तड़ित टूटती दुःसह
अंधकार भू का विदीर्णकर दुर्बह
युग युग की जड़ता कंप उठती थर-थर
आज स्वप्न प्रज्वलित चकित रे अंतर !

पृ० ७, ८

यह यथार्थ चित्रण है। क्या इसे पढ़कर इन विषम परिस्थितियों के विरुद्ध क्षौभ उत्पन्न नहीं होता ? क्या इनसे मुक्ति की कामना नहीं होती ? क्या किसी नवीन आदर्श की खोज की प्रेरणा नहीं होती ? यदि ऐसा होता है तो यह रचना प्रगतिशील है—यथार्थ के पक्ष में। इन यथार्थ परिस्थितियों से आदर्श समाज का उदय होता है जिसके विषय में पन्त ने इसी कविता में आगे लिखा है—

रक्त पूत श्रम धरा : संघर्षण,
धनिक श्रमिक मृत तर्कवाद निश्चेतन
सौम्य शिष्ट मानवता अन्तर्लोचन,
सृजन-मौन करती धरती पर विचरण।

उज्ज्वल मस्तक पर मुक्ता से श्रम-कण

शान्त धीर मन से करती वह चिन्तन ;
भू जीवन निर्माण निरत, नव चेतन
साधारण रे वास वसन, मित भोजन ।

पृ० ६

आदर्श चित्र को पढ़कर इसकी प्रगति की कामना जागने लगती है, हृदय उसके लिए लालायित हो जाता है । शक्ति स्वयमेव उधर अग्रसर होने लगती है । यह भी प्रगतिशील रचना है—आदर्श के पक्ष में ।

पन्त वर्गहीन समाज की कामना करता है, विश्व बन्धुत्व और विश्वशान्ति के गीत गाता है, भौतिक और आध्यात्मिक—सार्वभौम उन्नति का चित्रण करता है, मनुष्य समाज को प्रसन्न और फलता-फूलता देखना चाहता है, फिर भी वह प्रगतिशील नहीं है । क्यों ? क्या इसीलिए कि वह मार्क्सवादी नहीं है ?

९—कला के प्रति दृष्टिकोण

कला सम्बन्धी विभिन्न मत आलोचना जगत में पाए जाते हैं । कलावादी कला का जीवन के कोई सम्बन्ध नहीं मानते । उनकी दृष्टि में यदि कला जीवन को प्रभावित प्रेरित करती है तो यह उसका गौण कर्म है, कलाकार का उद्देश्य नहीं । कलाकार केवल कला का निर्माण करता है । उधर यथार्थवादियों का दावा है कि कला के महत्व का अङ्कन करने के लिए यह कोई प्रश्न नहीं है कि उसमें कितनी संजीवनी शक्ति है । कला का वास्तविक महत्व तो इस बात पर निर्भर करता है कि उसमें यथार्थ जीवन का कैसा चित्र खींचा है । फिर चाहे उस कला से समाज में दुराचार फैले और चाहे श्रवसाद । किन्तु प्रसाद के शब्दों में यथार्थवादी सिद्धान्त से ही इतिहासकार का रूप धारण कर लेता है जिसका उद्देश्य केवल यह दिखाना है कि समाज कैसा है । उधर आदर्शवादी दल का कहना है कि कला का महत्व यथार्थ जीवन के चित्रण पर नहीं, आदर्श जीवन के रूप पर निर्भर करता है । प्रसाद ने आदर्शवादी को धर्मोपदेशक से भिन्न नहीं माना है । अभिव्यञ्जनावादी क्रोचे का कहना है कि कला का ज्ञान स्वयं प्रकाशज्ञान (intuition) है । स्वयं

प्रकाश-ज्ञान से क्रोचे का अभिप्राय कल्पना के माध्यम से प्राप्त ज्ञान से है। उसका तो यहाँ तक कहना है कि हम जीवन में सदैव स्वयं प्रकाश ज्ञान का उपयोग करते हैं। अरविन्द का मत है कि बुद्धि साहित्य का निर्माण नहीं करती। कला में तो आत्मा का प्रकाश और शक्ति मुखर होती है जिसका सम्बन्ध चेतना से नहीं ऊर्ध्व-चेतना से है। × यदि कलाकार बुद्धि का प्रयोग करता है, यदि वह स्वयं प्रकाश-ज्ञान को काट-छाँट कर किसी विशिष्ट रूप में सँजो देता है तो उसकी कृति कला का उच्चतम रूप नहीं होगी।

सुमित्रानन्दन पन्त ने साहित्य को जीवन के उपयोग के लिए माना है। किन्तु यह उपयोग राजनीतिक या प्रचारात्मक नहीं, सांस्कृतिक है। उपयोगितावादी दृष्टिकोण रखते हुए भी उसने यह कहा है कि 'कलाकार को सोने को सुगन्धित करने का प्रयास करना चाहिए।' उसने काव्य में तीन गुण माने हैं १—सौन्दर्यबोध, २—व्यापक गम्भीर अनुभूति और ३—उपयोगी सत्य। 'गीत विहग' में पन्त ने काव्य की उपयोगिता को भी स्वीकार किया है और साथ ही साथ साहित्य तथा जीवन में सौन्दर्य की प्रतिष्ठा भी की है।

मैं नव मानवता का सन्देश सुनाता,
स्वाधीन देश की गौरव गाथा गाता।
मैं मनः क्षितिज के पर मौन शाश्वत की
प्रज्वलित भूमि का ज्योतिवाद बन आता
युग के खंडहर पर डाल सुनहली छाया
मैं नव प्रभात के नभ में उठ, मुस्काता;
जीवन पतझर में जन मन की डालों पर
मैं नव मधु के ज्वाला पल्लव सुलगाता ! पृ० १२

× The intellect is not the poet, the artist, the creator within us, creation comes by a suprarational influx of light and power which must work always, if it is to do its best, by vision and inspiration.

The Human Cycle page 152.

कवि ने अपने को नवीन मानवता का सन्देश देने वाला कहा है और साथ ही मन के उस पार का दूत भी । इसी कविता में आगे भी उसने अपने को आत्मा का दूत कहा है—

मैं गीत विहग, निज मर्त्य नीड़ से उड़ कर
चेतना गगन में मन के पर फैलाता,
मैं अपने अन्तर का प्रकाश बरसाकर ।

जीवन के तम को स्वर्णिम कर नहलाता ॥ पृ० १३

“अनुभूति” कविता में कवि ने काव्य के ज्ञान को स्वयं प्रकाश ज्ञान माना है जिसके उदय होने पर मन चकित रह जाता है—

अपलक रह नपों मनोनयन
कह पाते मर्म कथा न वयन,
तुम आती हो,
तन्द्रिल मन में

स्वप्नों के मुकुल खिलाती हो ! पृ० १३

यहां स्पष्ट कवि अनुभूति को ऊर्ध्व चेतन से सम्बद्ध कर के देखता है । ‘काव्य चेतना’ में भी कवि ने काव्य की अनुभूति को ऊर्ध्व और सहज माना है ।

तुम रजत वाष्प के अम्बर से
बरसाती शुभ्र सुनहली भर
शोभा की लपटों में लिपटी
मेघों का माया कल्पित घर !

+ X X

जलते तारों सी टूट रहीं
अब अमर प्रेरणाएँ भास्वर
स्वप्नों की गुंजित कलिकाएँ
खिल पड़ती मानस में निःस्वर
तुम रहस्य द्वार से मुझे कहां

गीते, ले, जाती हो गोपन,

शोभा में जाता हृदय डूब

पा स्पर्श तुम्हारा सुर चे !

पृ० ५७-५८

काव्य की चेतना कवि को इस लोक से निकाल कर किसी दूसरे सुन्दर लोक में ले जाती है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कवि वर्तमान जीवन की उपेक्षा करता है। वरन् जब कवि मन के उर्ध्व तलों की सुषमा के दर्शन करता है तो वह समाज को भी उसी में बोर देना चाहता है। वह वहाँ जा कर समाज को भूल नहीं जाता, वरन् समाज को भी उसी स्तर तक उठा देना चाहता है।
